

अध्ययन और अन्वेषण

[हिन्दी-विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय की वापिकी]

प्रधान सम्पादक—

डॉ० देवराज लयाध्याय

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

सम्पादक—

प्रो० प्रकारा 'आतुर

डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

प्रबन्ध-सम्पादक—

डॉ० कृष्णचन्द्र श्रोत्रिय

प्रकाशक—

हिन्दी विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय

उदयपुर [राजस्थान]

प्रकाशक -
हिन्दी-विभाग
उदयपुर विश्वविद्यालय
उदयपुर (राजस्थान)

अंक १

मुद्रक -
श्रीगीता प्रिन्टिंग प्रेस
उदयपुर

१६६५

धावरण शिल्पी -
दीपिका राय

सर्जिन्द चार खया

मल्य ३-रुपये-

Vice-Chancellor

UNIVERSITY OF UDAIPUR
UDAIPUR

दि २५ मार्च, १९६५

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि उदयपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के द्वारा उष कोटि की शोध-स्तरीय पत्रिका प्रकाशित हो रही है। यह बड़ा ही उत्साह-वर्द्धक है। इसके द्वारा निरचय हो छात्रों तथा त्रिमास्य ग्रहणशील पाठकों में साहित्यिक रुचि जाग्रत होगी। इस शुभ संकल्प के लिये हिन्दी-विभाग तथा उसके उत्साही सदस्य साधुवाद के पात्र हैं। आशा है यह पत्रिका गंभीर मुन्चिपूर्ण, विचारोन्मत्त तथा आकर्षक सामग्री पाठकों के लिये प्रस्तुत करेगी। ज्ञान तथा विज्ञान का क्षेत्र घातक शक्ति की शक्ति से विकसित हो रहा है कि जनसमुदाय को उससे पूर्ण परिचित रखना आवश्यक है। कोई भी राष्ट्र इस ज्ञान-सम्पत्ति के सुख-समृद्धि के प्रति उन्मत्त नहीं रह सकता। कामना है कि यह पत्रिका इस उत्तरदायित्व का ठीक तरह निभा सके।

ग० स० महाजन

उपकुलपति

उदयपुर विश्वविद्यालय,
उदयपुर

वर्ष के आरम्भ में ही उदयपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग ने एक वार्षिकी प्रकाशित करने का सकल्प किया था। अध्ययन और प्रन्वेषण में रत प्राध्यापकों ने लिए यह स्वामाबिक हो था। विद्यार्थियों से न तो कुछ वार्षिक सहायता की ही व्यवस्था थी और न कोई और प्रोत्साहन। यह प्रयास मान्तरिक प्रेरणा के फल स्वरूप था। मुझे विश्वास है कि सभी लोग इसका स्वागत करेंगे।

हिन्दी-साहित्य मात्र का बढ़ता हुआ साहित्य है। भाशा तो यह होती है कि जल्दी ही इसको एक नई विल्लुत अनुभूति और व्यापकता मिलेगी। यह तभी सम्भव हो सफता है जबकि हिन्दी भाषा भाषी और प्रमियों में नई जिज्ञासा और नई समर्पों और विचारों का संचार हो। भाशा है कि यह प्रयास उम वृहत् कार्य में कुछ अपनी ठीक देन दे पाएगा।

विश्वविद्यालय की मूल प्ररणा और प्रयास अध्ययन, प्रन्वेषण और मृजन ही है। हिन्दी-विभाग ने अपने इस प्रयास से मार्ग निर्देशक का कार्य किया है। निरचम ही अन्य विभाग भी इस कार्य में अपने अपने ढंग से धमसर होने का प्रयत्न करेंगे। इसी से ही विश्वविद्यालय का उपयुक्त वानावरण बनपेगा। मुझे विश्वास है कि कालान्तर में भाज का साधारण प्रयास एक वृहत् रूप ले लेगा। यह प्रयास प्रसन्नता का विषय है और सराहनीय है। मैं इसकी सफलता की कामना करता हूँ।

भीमसेन

डाइरेक्टर, स्कूल ऑफ वेसिक साइन्सेज
एण्ड द्य मैनिटीज
उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

डॉ० सत्येन्द्र,
आचार्य तथा अध्यक्ष

Department of Hindi
University of Rajasthan
JAIPUR

दिनांक ६-७-६५

प्रिय डॉ० उपाध्यायजी,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उदयपुर विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग 'अध्ययन और अन्वेषण' नामक वार्षिकी प्रकाशित कर रहा है। मुझे पूरा भरोसा है कि आपके मार्ग निर्देशन में यह विश्वविद्यालय-स्तर के योग्य होगी और इससे केवल आपके हिन्दी-विभाग का कृतित्व ही प्रकाश में नहीं आएगा, अपेक्षा और अध्ययन के क्षेत्र में प्रगतिवादी टोस सामग्री जहाँ से भी प्राप्त हो सकेगी उसे आप इसमें देंगे।

आपने अपने अध्ययनाय और मौलिक कृतित्व से जो स्थान हिन्दी साहित्य में बनाया है उसका लाभ विश्वविद्यालय को तो मिला ही रहा है। इस पत्रिका के माध्यम से अन्य साहित्य-प्रेमियों को भी प्राप्त हो सकेगा। इसी प्रकार आपके विभाग के अन्य मेधावी प्राध्यापकों के धनुसधानों का प्रतिफलन हमारे माध्यम से हमें प्राप्त होगा। यह अध्ययन ही शुभ प्रयास है।

मैं हृदय से इसका अभिनन्दन करता हूँ।

मयदीप
सत्येन्द्र

सम्पादकीय—

इसके इतिहास में बहुत ही क्रांतिकारी, मनुष्य तथा आश्चर्यजनक घटनाएँ घटी हैं। भारत स्वतंत्र हो गया, दिग्गज राजमाया के पत्र पर घासीन हो गई, बड़े-बड़े उद्योग धन्धों की नौबत पड़ी कल का पिछड़ा हुमा राजस्थान उन्नति की पुढेदौड़ में अन्य प्रांतों से प्रतिद्विष्टा करने लगा। पर, सीमित क्षेत्र में ही नहीं, एक श्रेय महत्वपूर्ण घटना भी घनी। कल का छोटा सा महाराणा भूतान का नेत्र उदयपुर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध होकर "उद्गाहुरिव वामन" की तरह आकाश-स्थित बात को छूने का प्रयत्न करने लगा। गत एक वर्ष का इसका प्रगतिशील इतिहास ही इसका साक्षी है। सब में एक तरह की छ-पट है, सब कुछ न कुछ कर लेना चाहते हैं अन्य विश्वविद्यालयों के समकक्ष प्रा जाना चाहते हैं। राम-काज कीन्हे बिना, मोहि कहीं विभाम ।

ऐसी परिस्थिति में हिन्दी विभाग पर एक विरोध उत्तराधिकार है यह भूलना संभव नहीं था। अतः अनेक वृत्तन प्रवृत्तियों का सूत्रपात किया गया जिनमें 'अध्ययन और अन्वेषण भी एक है। हिन्दी में बहुत कुछ लिखा जा रहा है। पर उसका एक बहुत बड़ा भाग ऐसा है जो पन्दी पन्नी से लिखा जा रहा है मानो मन् से पूर कर गाल पोस् पर पहुँच जाता है। इन प्रवृत्ति से निस्सन्देह लाभ भी हुआ है पर इस प्रवृत्ति के सीमातिक्रमण में जो क्षतरा है उस भी हम ध्यान म रखें तो अन्वेषण है। गम्भीर, धीर्यपूर्ण, सुव्यवस्थित मौलिक चिन्तन पर द्वावी हा जाने से इने रोकना हागा। अन्वेषण से किसी समस्या पर विचार करने के सम्भव हो जाने से जो विचार-आदिष्टि प्रा जाता है उगम हमें अपनी रक्षा करनी होगी। पाम्भव से विश्वविद्यालय का यही अन्वेषण है। हम इस मस्तिष्क में विशुद्ध ज्ञान तथा सत्य की उपलब्धि के लिए ही प्रवेश करत हैं। अध्ययन और अन्वेषण इन्ही बन्धानों को साकार कर देने में सहयोग देने के लिए मस्तिष्क में प्राया है। हम चाहते हैं कि विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों तथा शोध कार्य में संश्लेषण छात्रों के इतिहास उनके अध्ययन, धर्मशास्त्र तत्परीक्षण, अन्वेषण गम्भीर चिन्तन, समस्या पर मनीन अंग से विचार करने वाले इतिहास इत्यादि का सार प्रतिनिध अन्वेषण और अन्वेषण में हो। हम अपनी बातें स्पष्ट करें और व्यवस्थित अंग म प्रतिबन्ध करें।

हिन्दी में प्राधुनिकता का केंद्र बहुत बारां पर है। अधिकतर पत्रिकाएँ एसी ही हैं जो प्राधुनिक साहित्य के मूल्यांकन, उसकी गतिविधि के निरीक्षण-परीक्षण के ध्येय को लेकर चलती हैं। निबंधों के शीर्षक भी बड़े गुरु-गम्भीर होते हैं। उनका प्रारम्भ भी बड़ी धूमधाम तथा पतरेबाजी से होता है पर अन्त में घाने घाने अपलम्बि के नाम पर कुछ भी हाथ नहीं घाता। हमारे अधिकतर लेखकों का संस्कृत साहित्य ज्ञान नहीं सा है। अंग्रेजी से भी उनका सम्बन्ध फलसमाहि पाठ्यपुस्तक का ही है। हमारे जानने विदेशी साहित्य से भावात्मक गम्भीर परिवर्ण हो भी नहीं सकता। जहाँ विश्व कवि रविन्द्र हार मान गये और कहा कि अंग्रेजी के शब्द मुझे विदेशी समझ कर हृदय नहीं देते वहाँ दूसरा क्या साकर साहस कर सकेगा। हिन्दी साहित्य के द्वैतविधियों के लिये सबसे बड़े सन्दर्भ का घनी यही है कि आत्मा का लेशक भाव मूढ कर बाहर से भाये सटे घने पदार्थ को उत्तरस्थ कर रहा है— यह गेहूँ तक ही सीमित नहीं, विचारों तक भी पहुँच गया है। उसे आत्मसात् कर जीवन का रक्त बाना बना लेने की म ता उस शक्ति है और न फुपठ ही। इन सड़ी गली वस्तुओं की घन पच से सब वह छट्टी बकारें होता है सो सब मानिये घारा वातावरण ही दूषित हा हो जाता है। इसे हमें सावधान होना चाहिये। 'अध्ययन और अन्वेषण' इस प्रकृति के विकास पर कठोरता से नियन्त्रण करेगा। न पुरान से घृणा न नये से पक्षपात। इसे कालिदास को यह उक्ति याद है 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न कापि काव्य नवमित्यावम्' वह यह भी जानता है कि मूढ किसे कहते हैं और वह परप्रत्ययनेय अदि नहीं होगा।

अध्ययन और अन्वेषण का यह प्रथम अंक है। प्रथम अंक को बड़ी सतकमसक तथा साज-सज्जा से निकालने की प्रथा है। यह भी 'अध्ययन और अन्वेषण' नहीं कर सका। इतलिय नहीं कि यह सौंदर्य प्रेमी नहीं है, उसमें कलात्मक तथा सौंदर्य मूलक सुगन्धि का अभाव है पर इतलिय कि उसे घानी राह अर्थात् अध्ययन और अन्वेषण को राह पर चलते ये वस्तुमें मिली नहीं। उसे विश्वास है कि अपने सन्ने स्वास्थ्य को कानिमा भी पाऊँकर और रूढ़ से भीव मांगी गई घमकदमक से अन्वी होती है।

उद्यतरकोटि के लेखों तथा गुणाध्य सुदक्षिपूर्ण सामग्री की समस्या तो उसनी नहीं थी और न है पर अर्थ की समस्या तो थी ही और घनी है और शायद रहेगी भी। पर हम इन कठिनाइयों की क्या कह कर पाठकों के चित्त को नहीं दुलायेंगे। हमारे सामने एक ध्येय है, सफल है। उसनी सिद्धि के लिये कठिनाइयों तथा सुविधाओं

का कोर भी धर्म नहीं होता। हां, प्रेस की क्या थोड़ी फटनी है।

हम आगे बढ़ें तो हमारे सामने प्रेस की समस्या सामने आई। हमें इस कार्य का अनुभव नहीं था। हम यह कल्पना नहीं कर सके थे कि छाई का कार्य इतनी मंद गति से चलेगा। हमें खेद है कि अपने सारे प्रयत्नों के बावजूद भी हम छाई की गतिविधि में तीव्रता नहीं ला सके। हमारी पहलती तो यह पत्रिका मार्च में पाठकों के हाथों में होनी। हम प्रयत्नशील हैं कि भविष्य में यह कठिनाई न हो। छाई, गुण तथा साधन-संरक्षा के बारे में भी हम पूर्ण रूप से आश्वस्त नहीं हैं। अनेक त्रुटियाँ रह गई होंगी। यदि उत्तर तथा सुधी पाठकगण सहानुभूतिपूर्वक दृष्टि से विचार देकर इस दुष्प्रयत्न के प्रयास को प्रोत्साहित करेंगे तो हम अत्यंत उससे लाभ उठावेंगे।

हम दिव्य विभाग उदयपुर वि वि के प्राध्यापकों के कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपने व्यस्त जीवन से कुछ क्षण निकाल कर उचकोटि की सामग्री इस 'अध्ययन और अनुसंधान' को दी है। डा. अम्बारांकर नागर, अध्यक्ष दि वि गुजरात वि वि अहमदाबाद से हम कृतज्ञ हैं जिन्होंने एक लेख भेज कर सत्साह-बद्ध न किया है। गुणग्राही तथा विद्वद्भरेण्य भी डा० महाबनि उपमुख्यपति, उदयपुर वि वि तथा श्री भीमसेनजी, सेबालक स्कूल शॉक बेसिक साइन्स एंड हाइ मैथिनीज, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर को धन्यवाद देना केवल औपचारिकता निर्वाह मात्र होगा। वे पद-पद पर साथ रहे हैं। यथा सुखे स्थितं सति "इदमपि मन्वान्तं सर्वं व्याप्य तिष्ठति" की तरह।

—देवराज उपाध्याय

लेखक-परिचय

डॉ० देवराज उपाध्याय—

हिन्दी साहित्य व आलोचना क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक आलोचना की व्यवस्थित परम्परा के प्राग्भूत करने वाले प्रसिद्ध विद्वान तथा साहित्य मन्त्र। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी तीनों साहित्यों पर समान रूप से अधिकार रखने वाले गम्भीर चिंतक। उनमें ही शब्दों में " संस्कृत मरी माँ है हिन्दी धमपत्नी तथा अंग्रेजी प्रेयसी "। प्राधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान कथा के तन्त्र, रोमांटिक साहित्य शास्त्र, साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन इत्यादि पुस्तकें उनकी प्रतिभा तथा अध्ययन की अपूर्व देन हैं जिससे हिन्दी साहित्य समृद्ध है। जन्म १९०८ बिहार प्रति के शाहबाद जिले के ब्रह्मगवा नामक ग्राम में हुआ। शिक्षा-दीक्षा पटना में हुई और अध्यापन कार्य मन् १९३५ में जोधपुर (रा) में प्रारम्भ किया। तभी से निरन्तर शिक्षा विभाग, राजस्थान की सेवामें सलग्न हैं और आज जोधपुर विश्वविद्यालय के अध्यक्ष के पद पर कार्य कर रहे हैं। राजस्थान शासन ने आपकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर ५०) मासिक मेरिट पे स्वीकृत की है। कई छात्र आपने निर्देशन में पी एच डी कर चुके और कर रहे हैं। राज० साहित्य अकादमी के आप मन्त्र तथा प्रथम विद्वान व्याख्याता हैं। आपने कई पत्र-पत्रिकाओं का सफलतापूर्वक सम्पादन किया है।

प्रो० नमनारायण जोशी—

स्वभाव से संकोची तथा मितभाषा श्री जोशी का स्वभाविक स्मृति गम्भीर, दार्शनिक विषयों का अध्ययन एवं विवेचन के प्रति है। आप प्रांत के सुविदित कवि हैं और काव्य तथा आलोचना के क्षेत्र में आपने पर्याप्त यश अर्जित किया है। महत्तम विषयों को सरलतम अभिव्यक्ति दे कर, आप कठिन से कठिन विषय का भी रोचक एवं हृदयग्राही बना देने की कला में बड़े निपुण हैं। पारवात्य एवं भारतीय साहित्य-शास्त्र का आपने समान रूप से गम्भीर अध्ययन किया है और दोनों के सम्बन्ध की प्रवृत्ति आपके निबन्धों में देखने को मिलती है। पत की नवचेतना काव्य विषय पर आप शोध-कार्य कर रहे हैं। ब्रजला, इलियट, एनरा पाठगृह, अर्थवद आदि की मान्यताओं से आप विशेष रूप से प्रभावित हैं और उनके दार्शनिक मतों को सुपाठ्य शैली में प्रस्तुत करने का श्लाघनीय कार्य आप कर रहे हैं। संप्रति आप जोधपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक पद पर आसीत हैं।

डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

भागरा विश्वविद्यालय से हिन्दी और संस्कृत में एम ए तथा हिन्दी में पी एच डी । हिन्दी-काव्य में 'नियतिवाद' नामक शोध प्रबंध प्रकाशित हो चुका है । 'हिन्दी शिव काव्य विषय पर दो लिट के लिये शोध प्रबंध लिख रहे हैं । कविता नाटक, आलोचना, निबंध, उपन्यास आदि स सम्बन्धित ४० ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं । प्रमुख प्रकाशित कृतियाँ हैं— सारथी (महाकाव्य), चलती रहे मराल हिमप्रिया, विश्व-मोक्ष बापू भायान, जयघोष दुर्वासा, उत्सव, गौरवगान, सधर्मों के राही, मधुरजनी, सर्वोदय के गीत आदि काव्य, लड़ी बोली के प्रतिनिधि कवि, प्रेमचन्द और उनका गानान, काव्यालोचन मीमांसा और मूल्यांकन, हिन्दी साहित्य का आदर्श इतिहास हिन्दी भाषा और उसका इतिहास आदि आलोचना-ग्रन्थ, सोमनाथ, द्रोण का शिष्य विजय रवं शान्ति के प्रहरी, परनी का देवता लोक-देवता जागा, सदानोरा आदि नाटक तथा 'हम धरती के लाल' 'राह और रोशनी' आदि कथा-ग्रन्थ ।

आप बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार हैं । १९४३ ई में बराबर देश की सभी श्रेष्ठ पत्र-पत्रिकाओं यथा सरस्वती, विशाल भारत, वातायन सम्मेनन पत्रिका, नया पथ, नया जीवन हिन्दुस्तान धर्मयुग, सगम, नई धारा आदि में आपकी रचनाएँ निकलती रही हैं । राजस्थान साहित्य अकादमी ने आपको दो बार एक-एक हजार रुपये के काव्य पुरस्कारों तथा स्वर्ण-पदकों से, राजस्थान सरकार ने ५०) के गद्य-पुरस्कार से और भारत सरकार ने ७१०) के नाटक-पुरस्कार से सम्मानित किया है । आजकल आप उदयपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक राजस्थान साहित्य अकादमी के सचिव, सरस्वती-सम्पाद के मान्य सम्पादन और 'समितिवाणी' त्रैमासिकी के परामर्श-मण्डल में हैं ।

प्रो० प्रकारा आतुर—

राजस्थान के स्थानिय-ध कवि । काव्य एवं तनालोचना के क्षेत्र में गगन रवि । मध्य-युगीन एवं आधुनिक काव्य के अध्ययन प्रसारण की प्रवृत्ति । रंगमंच के सफल अभिनेता एवं निदेशक । काव्य में मानवीय-मूर्त्तियों के गापक और कभी न टूटने वाली धारणा के स्तर के उद्घोषक । विगत २० वर्षों से शिष्टण के क्षेत्र में कामरत । राजस्थान साहित्य अकादमी के भूतपूर्व निवृत्ति सचिव एवं प्रथम गवर्निंग बॉर्ड के सदस्य सम्प्रति उदयपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग में प्राध्यापक पद पर प्रतिष्ठित हैं ।

प्रो० नरलकिशोर—

प्रचार एवं प्रोपेगेण्डा से जोसों दूर प्रो० शर्मा विगत १० वर्षों से समीक्षात्मक लेख लिखने में विशेष रूप से प्रवृत्त हैं। क्या साहित्य के अध्ययन एवं अन्वेषण में आपकी विशेष रुचि है। आपके गम्भीर समीक्षात्मक निबंध, समय २ पर कल्पना, सहर माध्यम, भालोचना आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। निकट भविष्य में आपके दो समीक्षात्मक-निबंध संग्रह प्रकाशित होने वाले हैं। आपकी रचना की नवीनता और विचारा की सुस्पष्टता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सम्प्रति आप उदयपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग में प्राध्यापक पद पर प्राप्ति हैं और क्या साहित्य पर शोध काय कर रहे हैं।

डॉ० कृष्णचंद्र श्रोत्रिय—

डा० श्रोत्रिय प्रान्त के मूढ ग्य साहित्यकारों में से हैं। तथा प्राचीन एवं राजस्थानी साहित्य के उद्धारकों में आपका प्रमुख स्थान है। प्राचीन हि० एवं द्विग्व की अपेक्षाएँ अल्पज्ञान कृतियों के सम्पन्न एवं विवेचन के गुस्तर काय की सम्पन्न कर आप साहित्य की महती सेवा कर रहे हैं। १७वीं शताब्दी में रचित 'नाग दमन (साम्प्रदास भूला हृत) एवं भाषवदास दयिवाड़िया कृत 'रामरातो' का आपने संपादन किया है तथा "धुमाण-रास एक अध्ययन शीर्षक शोध प्रबन्ध पर आपको राजस्थान विश्वविद्यालय स पी एच डी की उपाधि प्राप्त हुई है। आपके शोधपूर्ण निबंध समय २ पर शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। सम्प्रति आप उदयपुर विश्व विद्यालय के हिन्दी विभाग में वरिष्ठतम प्राध्यापक हैं।

डा० कृष्णकुमार शर्मा—

राजस्थान प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सन्स्य डा शर्मा प्रान्त की उन नवोदित प्रतिभाओं में से हैं जो भालोचना के क्षेत्र में नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की चेष्टा में रत हैं। नयी कविता और भालोचना के क्षेत्र में आपकी प्रतिभा विशेष रूप से चमकी है। आपके विद्वतापूर्ण लेख समय २ पर हिन्दी की क्यातिलेख पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। गम्भीर अध्ययन और चिन्तन की और विशेष मुकाव होने के कारण आपको हाली में महानता एवं स्वामाविरु गम्भीय है। 'राजस्थानी लोकगाथाएँ' शीर्षक शोध प्रबन्ध पर आप राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पी०एच०डी० की डिग्री से सम्मानित किये जा चुके हैं। सम्प्रति आप उदयपुर विश्व विद्यालय के हिन्दी विभाग से सम्बद्ध हैं।

डा० अम्बाशकर नागर—

आप मात्रकल गुजरात विश्वविद्यालय, महम्मदाबाद में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष के रूप में कार्य कर रहे हैं। आपकी सारी शिष्टा-दोष्ठा राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर में हुई। वहीं से आप कुछ वर्ष पूर्व पी एच डी की उपाधि प्राप्त की। आप राजस्थानी व गुजराती, संस्कृत तथा अंग्रेजी के मान्यता प्राप्त विद्वान हैं। हिन्दी की उच्चकोटि की शोध-पत्रिकाओं में आपके लेख सदा प्रकाशित होते रहते हैं। आप अभी नवयुद्धक हैं और महिन्दी प्रान्त में रूढ़ कर हिन्दी को अक्षय्य जगते रहने से अपना जीवन व्यतीत करते हैं। हिन्दी को इनसे बहुत बड़ी २ आशाएँ हैं।

अनुक्रम



माया की शक्ति	१	डॉ० देवराज उपाध्याय
फला क्रोचे की दृष्टि	१०	श्री नेमनारायण जोशी
सामान्य-जन और साहित्यकार	१६	डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'
स्वार्तंत्र्योत्तर रामस्थान की हिन्दी काव्य-धारा	२८	श्री प्रकाश मातुर
माखलिक्ता और उपन्यास	६१	श्री नवलकिशोर
जोधराब कृष्ण 'हम्मीर राव'	७१	डॉ० कृष्णचन्द्र शोत्रिय
लोक-गाथा-साहित्यिक विवेचन	८७	डॉ० कृष्णमुनार शर्मा
प्रन्तप्रान्तीय हिन्दी साहित्य परम्परा	९६	डॉ० भम्बाशंकर नागर

भाषा की शक्ति

अब तक साधारणतः हमारी धारणा यही रही है कि साहित्य भाव प्रधान होता है, हृदय के मूल प्रेरणास्रोत की उद्दामता पाठकों में अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करती ही है। भाषा जसी तैसी हो उसमें गौरव-गोमयीय की घाड़ी कमी भी हो, वो कोई विरोध हानि नहीं। असल वस्तु है भाषा की उज्ज्वला, उनको प्रमिष्यस्त करने वाली भाषा का स्थान गौण है। 'भाषा अनूठी चाहिये भाषा फोड़ होय यह उक्ति बहुत दिनों तक मार्गों की चिन्तनधारा पर अधिभार जमाती रही है और आलोचक-गण जब कभी किसी काव्य का मूल्यांकन करते बठ हैं, उन्होंने सर्वप्रथम उसमें भावों की टटोलने का प्रयत्न किया है और अधिक से अधिक शंका भावों के लिये ही सुरक्षित रखे हैं। पर इधर कुछ वर्षों से, विशेषतः अब से अमेरिका वाली नई आलोचना का विकास होने लगा है हमारे विचारों में परिवर्तन का सूत्रपात हुआ है। काव्य में भावों के आविष्टक को संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा है और यह धारणा धर सी करने लगी है कि शब्द शक्ति भाव-शक्ति से कहीं अधिक प्रबल है। साहित्य भाव-परक नहीं, शब्द-परक होता है।

यह बात तो शायद किसी को भी अमान्य नहीं होगी कि साहित्य या काव्य का मुख्य मध्य प्रेयणीयता या प्रमविष्णुता है। वह और कुछ भी न करे पर उस पाठक को प्रभावित तो करना ही चाहिये। प्रभाव-क्षेत्र के परिधि-विस्तार में तो शंका हा सकती है। यह बात तो विचारणीय ही लगती है कि वह कितने और कैसे लोगोंको प्रभावित करे, अल्प-अल्पक दिनोंको या बहुमंस्थक क्षणोंको ? पर प्रभावोत्सादकता वाली बात कभी भी आस्वीकृत नहीं की जा सकती। एक बार यह बात मान लेने पर यह प्रश्न उठता है कि यह प्रभावोत्सादकता कहाँ रहती है ? भावों में या शब्दों में ? धारणा का साहित्यिक स्वरूप उत्तर देगा शायद, भावों में नहीं। यह कहेगा कि भाव में, विचार में मूल प्रेरणा में मने ही कोई अन्तर न हो, पर शब्दों के इट-केर में उससे प्रभाव में महान परिवर्तन हो सकता है। एक शब्दावली से अशीष्ट प्रभावोत्सादन

होता है, दूसरी शब्दावली इस कार्य के लिये असमर्थ सिद्ध होती है और तीसरी से ठीक विपरीत प्रभाव उत्पन्न होता है, अनिष्ट की सिद्धि होती है।

शब्द बनाम भाव वाली समस्या प्राचीनों के सामने नहीं थी सा बात नहीं। 'शुद्ध' वृत्त' विष्टत्यमे और 'नीरसतरुनिह विलसति पुरत वाले विवा' में जो वास्तविक समस्या है वह शब्द बनाम भाव की ही है। नहीं तो ऐसा क्यों होता कि दोनों के मूल भाव में एकता वर्तमान रहते भी एक कवि को कदम्बरी को पूरे करने का उत्तरदायित्व सौंपा जाता और दूसरे को उस गौरव से वंचित रखा जाता। हा, इतना ही कहा जा सकता है कि यह संघर्ष सुनकर सामने नहीं आया था। कारण कि तब तक हम जीवन की वास्तविकता से कट कर सवधा मतग नहीं हो गये थे और कर्मी जीवन जीने नहीं सये थे। बोलते जरूर थे, शब्दों का प्रयोग प्रवश्य करते थे, पर इन शब्दों के पीछे कर्म शक्ति का बल भी था। शान्ति तथा कर्मिक जीवन में सामन्स्य था, शब्द वास्तविक भाव-विवक्षित नहीं होते थे। पर आज हम जिस युग में जी रहे हैं उसमें शब्द का कितना मूल भाव से घाबड़ रहना कोई आवश्यक नहीं, वह उससे कटकर अपना स्वतंत्र जीवन भी जी सकता है मानो कोई राकेट पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण शक्ति की परिधि से परे टाकर चकर काट रहा हो। बचन तथा कर्म के पारस्परिक सम्बन्ध के इतिहास की हम बढ़े मने से तीन भागों में विभक्त कर ले सकते हैं। सवप्रथम तो प्रवस्था यह रही होगी जब कर्म और बचन में कोई भेद था ही नहीं। मनुष्य कर्म तो करता हागा, सोमता होया ही नहीं। वास्तव में उसका कंड फूटा हो नहीं हागा बोले तो कने। प्रता कर्म ही करता हागा। सोमता हागा ही नहीं। बाद में वह प्रवस्था आई जब वह बचने मया हागा पर फिर भी उसकी बोली कितनी वास्तविक बिया का प्रतिनिधित्व करती थी। पर अब वह जमाना आगया है कि हम शब्दों के राज्य में काम करने लग हैं।

उदाहरणार्थ मुझे भूल सगी। मैंने कप ताड़ कर मा लिया घपवा पत्यर उठाया और उस शिखर का मार कर उगसे अपनी बुभुक्षा शान्त करली। किमी से कहन सुनने की आवश्यकता नहा। बाम भूष मगन पर मैंने भोगा स कहना भी सीखा कि भाई मैं भूषा हूं मुझे भूष सगी है। शायद इसमे मेर स्वार्थ की सिद्धि होगी थी। कई कुछ खाने का निय दे देता था और मरी भूष की शृति हो जाती थी। पर भूष सगी है यह वाक्य मरी वास्तविक भूष का प्रतीक था। ऐसा नहीं कि भूष नहीं है और मैंने कह लिया कि भूष सगी है। पर अब समय ऐसा आ गया है कि हमें भूष नहीं है तो भी हम कह सकते हैं कि भूष सगी है और यही

बात मिल-मिल शब्दों के द्वारा कही जा सकती है।

शब्दों में क्या समझा जाता है, एक ही बात को दो मिल २ ढंगों से कहने से उसका प्रभाव में कौन सा महान अन्तर आ जाता है, इन बातों को एक लेखक ने एक दृष्टान्त-कथा द्वारा समझाने की चेष्टा की है। वास्तव में, एक दूसरे से बहुत ही दूरस्थ, परन्तु संयोगवश दोनों का एक ही तरह की समस्या का सामना करना पड़ा। दोनों ने अपनी समस्या का हल करने के लिये एक ही प्रकार के साधन का काम लिया। पर जहाँ एक को धीरे धीरे सफलता मिली वहीं दूसरे को सफलता तो क्या मिलती, स्थिति और भी अटल बन गई। ऐसा क्या? शब्दों का समझना! दोनों ने एक ही साधन से काम लिया पर सफलता के क्षेत्र बालों न अपनी क्रिया को दूसरे नाम से पुकारा। कथा में है कि दोनों स्थानों में प्रायिक मंदी छा गई थी और वहाँ पर बहुत से लोग बेरोजगारी के शिकार हो गये थे। भोज्य सामग्री की कमी न थी। बाजारों में वस्त्र इत्यादि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थे, गृह-निर्माण के लिये भी स्थान का तथा उपयोगी वस्तुओं का अभाव न था पर इन चीजों को खरीदने के लिये लोगों के पास पैसे नहीं थे। इसलिये इन स्थानों की समस्या बड़ी अटल हो गई थी।

रोजगारहीन व्यक्तियों ने अपने लिये नौकरी या जीविकोपार्जन के साधन ढूँढने के लिये भी तोड़ परिश्रम किया पर सफलता न मिली। वहाँ के जो सम्पन्न परिवार के व्यक्ति थे, वे शिक्षित, महद्वय, विवेकशील तथा हर तरह से महायत्न की प्रवृत्ति से प्रेरित थे। वे मरीज परिवार के इन व्यक्तियों तथा उनके बोबी-बच्चा को भुखें मरत दखना नहीं चाहते थे और चाहते थे कि उन्हें प्रायिक सहायता प्रदान की जाय। पर वहाँ के सब लोगों के— रोजगारहीन तथा सम्पन्न-हृदय में यह संस्कार जमा हुआ था और वे इन सिद्धान्तों में विश्वास करते थे कि मुक्त में, बिना किसी तरह के प्रतिदान के ही यदि सहायता देने से प्रवृत्ति व्यक्तिक चरित्र का नैतिक पड़न होता है। ये अन्तर ही अन्तर दुःख होने लगते हैं और वे अन्ततया जीवन-यात्रा के लिये सर्वथा अक्षम तथा असमर्थ हो जाते हैं। अतः अन्त के दो रूप सामने आये —

(१) जीविकाहीन व्यक्तियों को भुखें मरत दिया जाय ?

अथवा

(२) सहायता देकर उनका नैतिक चरित्र को भ्रष्ट कर दिया जाय ?

यदि सहायता नहीं दी जाती है तो वे भुखें मरते हैं और

यह कौन नहीं जानता कि, 'बुभुक्षित' किंम करोति पापम्' कौनसा धनराश है जो भ्रूसा व्यक्ति नहीं कर सकता ? यदि सहायता दी जाती है तो उनकी नैतिक शक्ति का ह्रास होता है जो और भी अधिक भयंकर है ।

भारत बहुत ऊहापाह तथा सोच विचार के बाद निर्णय यही हुआ कि सहायता दी ही जाय । नहीं तो भ्रूख, समाज के अस्तित्व को ही धा जायगी । प्रत्येक अरुण तमन्द व्यक्ति को ५० रुपये मासिक सहायता का नियम बना लिया गया परंतु सहायता-प्राप्ति की शर्तों अधिक से अधिक कठोर, अटिल तथा अपमानजनक बना दी गई ताकि भोगों में कल्पेपन का अभ्यास न होने पावे, उनमें सहायता लेने का उत्साह न रहे नाम और ये सहायता, भीस ही कहिये, की बाह तब तक न फैलाये जब तक यह अनिवार्य न हो जाय । एक बार तो यह भी सोचा गया कि सहायता लेने वाले व्यक्ति का नाम समाचार-पत्रों में प्रकाशित किया जाय भयवा उन्हें वोट देने के साधारण नागरिक अधिकार से वंचित किया जाय । मसलब यह कि बेकारी में अनुदान प्राप्ति की परिस्थितियों को अधिक से अधिक नियंत्रणक तथा उत्साहभंजक बनाया गया ताकि लोगों की अपने पैरा पर खड़ी करने वाली शक्ति का ह्रास न हो । अनुदाना सम्पन्न व्यक्तियों की कल्पना यह थी कि अनुदान-गृहीता व्यक्ति इस सहायता के लिये और कुछ न सहो ता कम से कम उनके कृतज्ञ तो अवश्य होंगे ।

पर इस योजना के क्रियान्वित होने के कुछ दिनांक परचाए जो परिणाम सामने आये वे इतने भयंकर और निराशाजनक रहे, जिनकी कभी कल्पना भी नहीं हो सकती थी । समाज में शान्ति की स्थापना तो बेश हूंगी, धराजकता की स्थिति उत्पन्न होगई । जिन व्यक्तियों का सहायता दी जाती थी वे शान्त तो क्या हल्ले भरी निस्तोम बन गये, अरु से अटक पर समाज की छाती पर छूटने के लिये तैयार । उनमें कृतज्ञता की भासा की जाती थी पर वे होगये कुतुम्न । जब कभी अनुदान देने के पहले जांच करन वाले निरीटक उनके घर की छो-छोटी बाठा की पृष्ठ-छाछ करने मगये, तो यह बात उन्हें बहुत पलटती थी । वे समझते थे कि ये सम्पन्न व्यक्ति उनकी विपन्नता को हँसो उसा रहे हैं । ताजमहल पर की गई एक कविता की भाद भा रही है—

किसी सरमायेदार ने दौलत का सहारा लेकर,
इस गरीबों की मुफलिसी का उड़ाया है मज्जार ।

यह कविता इस अनुदान-गृहीता व्यक्तियों की मानसिक स्थिति का प्रथम प्रतिनिधित्व करती है ।

अब जरा ध्यान से इस बाल पर विचार कीजिये कि बेकारा तथा गरीबों को सहायता के नाम पर देने वाले अनुदान के कारण कौनसी दूषित तथा विकृत परम्परा प्रारम्भ हुई। मान लीजिये कि इन सहायतापत्रोंकी व्यक्तियों में स कोई किमा दिन भूले-भटक सिनेमा देखने चला गया। उन्हें ऐसा लगता था—सम्भव है यह सही भी हो—कि उनका परिचित मित्र जो बरा उनसे अधिक सौभाग्यशाली इस अर्थ में थे कि वे बेकार नहीं थे उनकी ओर माने फाड़-फाड़ कर देखते हैं और कह रहे हैं कि हम छोटो फाड़ कर परिश्रम करें और टेकम दें ताकि तुम्हारे जैसे भावारागद मदे म बडे सिनेमा का आनन्द लूटा करें। ऐसे-एसे काल्पनिक अथवा वास्तविक दुष्प्रवृत्तियों के कारण इन लोगों के अन्दर और भी कटुता उत्पन्न होती गई। कुछ लोग बैठे-बैठे अपने भाग्य का कोसल के मिठा और कुछ भी नहीं करते। कुछ ने तो ऊब कर आत्महत्या करनी। कुछ लोग अपनी पत्नी और बच्चों से प्राप्त भी नहीं मिल पाते क्योंकि वे इसी भावना से दबे रहते कि वे उनके जीवन के लिये आवश्यक साधन भी नहीं जुटा पाते। सब लोग से मित्रता के सूत्र छिन्न मिल होयें, सबसे मिलना-जुलना तक कठिन होगया क्योंकि उनमें हीनता-प्रिय वे कारण सर उठा कर चलने का साहस ही नहीं रह गया था। उनकी पत्नियों का भी समाज में निरादर होना था। उनकी भक्तानें स्कूल में अपमान की दृष्टि से दली जान लगी। उन्हें भी हीन भावना ने प्रतल कर लिया। स्वस म सो वे पीछे पडने ही लगे आगे चलकर उनके विकास का मार्ग भी अवरुद्ध होगया। कुछ आदातापत्र ने इस भील मंगी के जीवन क अपमान म तग आकर किनी भी कीमन पर कोई सम्मानपूर्णे जीविका की शोभ म प्राण त्याग दिया। किनी न इस विकृत जीवन से डाका डामना धेयस्कर समझा और समाज में शोरी और बर्कती के अपराध में वृद्धि होगई। अत यह सहायताकार्य ओ सेवा के माय से प्ररित होकर समाज म शक्तिस्थापन के लिये प्रारम्भ किया गया था अतः अतः अतः का अतः होगया। दबा राग से भी अर्पण कर निकली। सो भी एक महत्त्व शान्तिक मूल क कारण। वह मूल क्या थी अभी पता चलेगा जब हम यह देखेंगे कि दूसरे स्थान वाले इस सहायताकार्य का शीघ्रण कर किस तरह अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफल हुए।

दूसरे आर्थिक मँदी क्षेत्र के व्यक्तियों ने भी इस बेकारी की समस्या को आर्थिक सहायता के द्वारा ही हल किया। बान्धव में इसके सिवा समस्या का मुनभ्राने के लिये दूसरा उपाय हा ही नहीं सक्ता था। परन्तु उल क्षेत्र क अनुभवों वृद्धों म से एक बहुत ही अनुर व्यक्तिया जो मानव की मनोबानातिक प्रक्रिया की समझना

पा। वह जानता था कि आज का मानव वास्तविक मूर्खों को भले ही पहचानता न
 हा पर प्रतीको क महत्व को खूब पहचानता है। चाप उसकी कागज का एक छोटा
 टुकड़ा दे दीजिय और उसे यह मान लेने में कोई संकोच न होगा कि यह एक सात
 रूपया है। घन उन्होंने दान दत्तवालों को समझाया कि लोगो पर दया करके दान भजे
 ही दिया जाय पर उसे कृपा या अनुदान न कह कर उसे किसी मुन्दर तथा भय नाम
 से अभिहित किया जाय। घन उनके सामने एती भाषा बोली जाय जिसने व परिचित
 भी ही और जिसने साथ अच्छे भाव भी जुड़े हों। आज मानव जीवनवीमा के नाम
 से खूब परिचित है। यह आज की साधारण सी प्रथा होगई है कि लोग समय-समय
 पर कुछ रुपये की निश्च जमा करने रहते हैं ताकि दुष्पटना होने पर, प्राय लग जाने
 पर, पानी में डूब जाने पर, विवाह इत्यादि किसी भी जरूरत के अवसर पर रूपय
 प्राप्तानी से मिल जायें। दुष्पटना के अवसर पर बीमा कम्पनी से रूपये मिलत है पर
 उनपर हमारा अधिकार है, जिन्हें हमने समय २ पर ऐसे अवसर के लिये पेट काटकर
 एकत्र किया ह। किसी ने कृपाकर दान या भोज के रूप में नहीं लिया है। इसी बात
 की ध्यान में रख कर हमने इस सहायता देने प्रश्न को एक दूसरे ही ढंग से लोगो
 क सामने उपस्थित किया। उभन लोगो को समझाया कि जिस तरह साल प्रयत्नों के
 बावजूद भी कभी-कभी रोग उत्पन्न हो ही जाते हैं दुष्पत्तामें घट ही जाती है प्राय
 लग ही जाती है बाढ़ आ ही जाती है। उसी तरह आज के युग में दुर्निवार कारणों
 से कभी-कभी बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो जाता कोई साधारण बात नहीं
 जिसके लिये हम सज्जत हों। आज यह क्षेत्र समृद्ध है। मही मुन्दर कनात्मक भवन
 वतमान है उधानो की शोभा दशरीय है वह सब लोगो क सम्मिलित प्रयत्नों के
 परिणाम स्वरूप ही उपलब्ध है। इस उपलब्धि में आज के बेरोजगार कहे जाने वाले
 व्यक्तियों का भी बहुत बड़ा हाथ है। आज जैसे ही दुर्गिन में काम करने के लिय ही
 तो इन लोगों ने अपने परिश्रम की किरतें जमा कर इस क्षेत्र को ऐसा बना लिया
 है कि यह समृद्धि से जगमगा रहा ह। घन आज के बेरोजगारी के शिकार व्यक्ति एक
 तरह Policy holder हैं और जिसे सहायता कहा जाता है वह उनका Insura
 nce claim है जो समस्त पाकर परिपक्व होकर दावे के रूप में उन्हें प्राप्त होरहा
 है। यह एक सीधा व्यापारिक मामला है। इसमें न तो कोई किसी पर कृपा करता
 है न कोई कृपा-भाजन ही है। यह महज सीदेबाजी है, इस हाथ दे उस हाथ से।
 हमने एकबार दिया है, वापस ले रहे ह तो संकोच क्या? बस, लोगों की समझ में
 बात प्रागई। बस क्या था? एकबार सिद्धान्त के तप होजाने पर सफ़लील में जाकर

व्योरे की बातों के तय करने में कोई कठिनाई नहीं रही। यही तक नहीं। यह निर्णय किया गया कि कार्य का अर्थात् बोम्बे की किरत की अन्वयगी का अर्थात् आन्ताभा को दान देने का प्रारम्भ बड़े घुम घाम से किया जाय। एक समारोह किया जाय जिसका उद्घाटन राजपाल वं करकमला के द्वारा हो और उसमें जन्मरतमन्द सोगा का प्रथम किरत का पुरस्कार वितरण किया जाय। इनका तथा उनके परिवार का कोटो लिया जाय और समाचार के मुख पृष्ठों पर उसे प्रकाशित किया जाय। तुमल हर्षध्वनि के बीच कार्यक्रम समाप्त हुआ।

जहाँ प्रथम क्षेत्र के आन्ताभा के हृदय में हीन भावना के उद्रेक ने उनकी नैतिक शिराओं को दुबल बना उन्हें पतन के गह्वर में पटक दिया, समाज में अराजकता के दृश्य उपस्थित कर दिये वहाँ उसी सहायता से दूसरे क्षेत्र के आदाताओं में आत्मविश्वास तथा गौरव के भाव जगे। अपने आर्थिक संकट को साहस तथा धैर्य के साथ झेलने की शक्ति अन्दर से उत्पन्न हुई क्योंकि उन्हें इस विश्वास ने घाम्हा रखा था कि वे अकेले नहीं पूरा समाज उनसे साथ है। बेकारी से प्रस्त लोगो के बच्चों के लिये स्कूल के अन्य बच्चों के हृदय में आदर के भाव जगृत हुए क्योंकि राजपाल ने उनके साथ हाथ मिलाया था जो पत्रों में प्रकाशित हुआ था। इस क्षेत्र में न तो आत्महत्याएँ हो हुईं, न अपराधों की संख्या में अभिवृद्धि हुई, न लोगो का मानसिक संतुलन ही नष्ट हुआ और न किसी तरह की उच्छ्वलता ही उत्पन्न हुई।

यह अमत्कार क्यों कर समभव हो सका ? इसीलिये कि प्रथम क्षेत्र के लोगों ने अपने व्यापारों के लिये समुचित शब्दों का प्रयोग नहीं किया था। वे "ठगलेख-लीला घटना-पट्टु नहीं थे। दूसरे क्षेत्रों के लोगो में इस तरह की पट्टता थी। इस दृष्टान्त क्या को पढ़कर कौन कह सकता है कि कविता शब्दरूप नहीं है, भावरूप है। यदि कविता मसलब अभीष्ट प्रभावोत्पादन सामर्थ्य वास्तविक भावों में निवास करती तो यह अमत्कार कैसे सम्भव होता ? दोनों क्षेत्रों के नेताओं के भाव तो एक ही थे, दोनों का कार्यक्रम भी एक ही था। अन्तर इतना ही था कि एक ने अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिये समुचित शब्दों का प्रयोग किया। दूसरे इसने अचित रूढ़े। शायद यह समता उनमें नहीं थी। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि सफल क्षेत्र के नेताओं ने शब्दों का प्रयोग नहीं किया केवल समुचित अर्थ की, ध्वन्यात्मक प्रतिबिम्ब की। क्योंकि शब्दों का सम्बन्ध अनिर्वाच्य रूप से भावों तथा अर्थों में जुड़ा हुआ सम्बन्ध जाता है।

आपके सामने एक दृष्टान्त क्या के द्वारा अपने मंतव्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया। अब एक वाक्य सीजिये और शब्दों के समतार को देखिये। जिस समय विरव्यापी द्वितीय महायुद्ध चल रहा था उस समय इस तरह के वाक्य खूब देखने या सुनने को मिलते थे। **French army in rapid retreat** (फ्रांस की सेनाओं में भगंड मच गई) यह कितना निराशाजनक संवाद है। पर इसी को हल ढंग से कहें। **The retirement of the French forces to previously prepared position in the rear was accomplished briskly & efficiently** (पृष्ठ भाग में पूर्वनिर्धारित स्थान पर फ्रांस सेनाओं तेजी से श्रुत दुरुस्त पट्ट च गई) केवल समुचित ध्वनि तथा कोणाहल के कारण ही कितना अन्तर भाषया ?

जिस समय अफिरा में बोमर युद्ध चल रहा था तब बोमरा की युद्ध नीति तथा रणकौशल में अग्रणी सेना बड़ी प्रस्त हा गई थी। वे पहाड़ी प्रदेशों के कोने कोने से परिचित थे और झाड़ियाँ तथा बन्दराओं की घोट में छिपकर इस तरह वार करते थे कि किसी को कुछ पता नहीं चलता था। अन्तः प्रस कायरता के लिये ब्रिटिश प्रेसों में उनकी बड़ी भर्त्सना की जाती थी। **Sneaking & skulking behind rocks & bushes** परन्तु आगे चल कर अग्रणी सेनिकों को भी उस कौशल का गान होगया और वे उसी से काम लेने लगे। तब कहा जाने लगा। कि अग्रणी सेना **Is cleverly taking advantage of the cover** अर्थात् इस स्थिति का अनुकूलता से लाभ उठा रही है।

अब कुछ प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है।

- (१) कि हम जिन शब्दों का उच्चारण करते हैं क्या वे हमारे हृदय के भावों या विचारों के परिणाम हैं अर्थात् पहले हमारे हृदय में भाव या विचार उत्पन्न होते हैं तत्पश्चात् हम उन्हें उपयुक्त शब्दों में बांध प्रकट करते हैं ?
- (२) अथवा जिस भाषा को हम जानते हैं वही हमारे विचारों को भी नियंत्रित कर रही है ? अर्थात् हम जिस भाषा को जानते हैं उसका हमें ज्ञान न होता और हम दूसरी भाषा जानते होने जिसका व्याकरण, वाक्य विन्यास इत्यादि की प्रणाली दूसरे ढंग की होती तो क्या हमारे विचार भी दूसरे ढंग के होते ? आज विश्व में जो संघर्ष है, भिन्न भिन्न विचार पद्धतियाँ हैं क्या वे इसीलिये हैं कि

लोग भिन्न भिन्न भाषा बोलते हैं ? यदि भाषा एक हो जाय तो क्या "वसुधैव कुटुम्बकम्" वाला स्वप्न साकार हो कर रहे ? यदि यह बात ठीक है तो कौरव पाण्डवों के बीच मन्त्रे घोर महाभारत की सगति कैसे बढ़ाई जा सकती है ? कौरव पाण्डव तो भाई भाई में । एक ही भाषा बोलते थे तो फिर यह विभेद कैसे समझ हा सका ?

जो हो, दतना अवश्य है कि शब्दों के कोलाहल का महत्व आज बहुत ही बढ़ गया है । आज दिन रात रेडियो बजने रहते हैं, गली मूला में कोई प्रोग्राम चलता रहता है, किसी का भाषण प्रसारित हो रहा है, उद्बोधक गीत सुनाये जा रहे हैं, नाटक स्वीकर कड़क रहे हैं, बोलते चित्रपट पूण्यस्व से महानिष्ठा सक्रिय है आज हमारा जीवन शब्दों का प्रभविष्णुता के प्रति जितना खुला है उतना कमी नहीं था । शब्दों के प्रपात की ध्वनि आज हमें जिस तरह प्रभावित कर रही है वह इतिहास के लिये अमूल्य है । हिटलर को अपने युद्ध में जो आश्चर्यजनक सफलता मिली थी उसका श्रेय अन्तर्गतता को उतना नहीं था जितना रेडियो तथा डॉ गोबेन के शान्दिक प्रचार को था । अतः आज मोर्चे पर बोली दापने के पूर्व रेडियो पर तथा समाचार पत्रों में शब्दों के गोल गड़गड़ान लयते हैं ।

व्यावहारिक स्तर पर यह ता ही रहा है और कुछ उच्चस्तरीय प्रतिभा वाले व्यक्ति शब्दबद्ध के महत्व को समझते भी लगे हैं पर साधारणतः लोग अभी तक यही समझते हैं कि मुख्य वस्तु है भाव अथवा विचार । यदि ये हैं तो शब्द मिल ही जायते । एक ही भाव को अभिव्यक्त करने वाली शब्दावली समाज को सत्या नाश में मिला सकती है, पर दूसरी शब्दावली समृद्धिका द्वारा उद्घाटित कर सकती है । किसी ऐतिहासिक साहस्य में लिपटा हुआ शब्द प्रयोग वा व्यक्तित्वा में साधारण शिष्टाचार भी कठिन बना देता है पर उसको हटाते ही उसी अर्थ के छोटक दूसरा शब्द दो हट्टों को जोड़ता है, दो भिन्न व्याकरण वाले वाक्य सगठन, रूप विन्यास के बोलने वालों की विचारधारा भी एक नहीं हो सकती । इस बात की और जागे का ध्यान कम गया था । पर अब यह सोचा जाने लगा है कि मानसिक स्पन्दन के शान्दिकरण के निवा विचार है ही क्या ?

कला कोने की दृष्टि

इतालवी दार्शनिक तथा सौन्दर्य शास्त्री बेनेडेगो क्रोचे (१८६६-१९५२ ई) 'कला' की संक्षिप्ततम परिभाषा प्रस्तुत करता है, जब वह कहता है, कि कला सहज ज्ञान है। किन्तु, जब इस सहजज्ञान को स्पष्ट करने के लिए वह विवेचन करने लगता है, कि कला क्या नहीं है, तो उसकी व्याख्या दीर्घतम हो जाती है।

'कला क्या नहीं है' को स्पष्ट करना श्रृंग परिभाषा है और व्यर्थ है, क्योंकि परिभाषा को सग्न घन ही होना चाहिए। यह घन क्रोचे द्वारा प्रस्तुत की गई परिभाषा के सम्बन्ध में उल्टी जा सकती है, किन्तु घन भर का पुनर्विचार इस संका का तात्विक समाधान कर देता है, क्योंकि परिभाषा स्वयं में—कला, सहज ज्ञान है एक घन—बघन ही है। कला के प्रति कुछ वस्तुओं का जो निषेध क्रोचे ने किया है, वह पृथक्करण का ही एक रूप है और यह पृथक्करण किया गया है, स्वयं कला के स्वरूप को अधिनाधिक स्पष्ट करने के लिए।

पहला निषेध, जो क्रोचे ने किया है, वह यह, कि कला या सहज ज्ञान कोई भौतिक तथ्य नहीं है। इसका धारण कलाधित् यही है कि कला, मानस की या अन्तर की प्रक्रिया है, जिसका बाह्य भौतिक अगत से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु जब क्रोचे, कला की अमौलिकता सिद्ध करने के लिए सारे भौतिक पदार्थों का मिथ्या सिद्ध करता हुआ आत्मावाणी दर्शन के घाघे में घुम जाता है तो वह नहीं जानता कि उसने अपने सिद्धांत के लिए कितने नये संकट और अन्तर्विरोध उत्पन्न कर लिये हैं।

क्रोचे लिखता है "इस (कला) का सर्व प्रथम निषेध है कि कला एक भौतिक तथ्य है। यह भौतिक तथ्य नहीं हो सकती, क्योंकि भौतिक तथ्य अवास्तविक होते हैं, और कि कला, जिसकी साधना साग जीवन पयन्त करते हैं, और जो उन्हें अतीन्द्रिय आनन्द से भर देती है पूर्णतया वास्तविक है। इस प्रकार, यह भौतिक तथ्य नहीं हो सकती भौतिक तथ्य, जो अवास्तविक होता है। प्रारम्भ में यह बात कुछ विचित्र सी प्रतीत होती है क्योंकि साधारण मनुष्य का भौतिक संसार

से अधिक ठोस और सत्य वस्तु कोई दूसरी नहीं दिखाई पड़ती। भौतिक जगत की अर्थपर्यता न केवल असद्विषय रूप से स्थापित हो चुकी है और उन समस्त दार्शनिकों द्वारा, जो बहुत जड़वादी नहीं हैं, और जो भौतिकवाद के स्पष्ट अन्तर्विरोधों से मुक्त हैं, गृहीत हो चुकी है, बल्कि स्वयं उन भूतवाणियों द्वारा भी प्रतिपादित की जा रही है जो अपने विज्ञान में एक निरुपम मनोनुकूल दर्शन का मिश्रण कर रहे हैं, यह कह कर कि भौतिक वदार्थ ऐसे सिद्धांतों की उत्पत्ति है जो अनुभव की सीमा से परे हैं— जो परमाणु हैं या ईश्वर हैं या जो किसी अज्ञात का प्रकटीकरण हैं।”

यहाँ भौतिकवाद और विचारवाद (Idealism) की दार्शनिक गहराईया में प्रवेश न कर केवल इतना ही कहना उपयुक्त होगा कि यदि भौतिक जगत की सत्ता न मानी जाय तो मानस पर पड़ने वाले अिन संस्कारों या प्रभावों की बात क़ोचे नबन करना है, वे क़ाकर संभव होंगे ? क्या यह सोचा भी जासकता है कि मानस में निर्मित होने वाले बिम्बों की प्ररणा मानस स्वयं ही है ? मनुष्य के अतुदिक जो वातावरण है, क्या सामासिक बिम्बा के निर्माण में उसका कोई योग नहीं है ? क्या से कम आधुनिक मनोविज्ञान तो ऐसा नहीं मानता।

वस्तुतः क़ोचे स्वयं ऐसा नहीं मानता। जिस प्रकार वेगन्त ने हृदय जगत को ब्याख्या करने के लिए माया या अज्ञान का पल्ला पकड़ा, उसी प्रकार, अर्थ विचारवादियों की शक्ति क़ोचे ने भी स्थापना की कि मानस, अपने स्वयं के लिए बाह्य भौतिक जगत की कल्पना कर सकता है। किन्तु, दोनों ही दार्शनिक पद्धतियों में यह सिद्ध न्त स्पष्टत ऊपर से चिपकाया हुआ प्रतीत होता है और रगमंच पर विष्णु की दो नकली भुजाओं का स्मरण करता है।

यदि क़ोचे बाह्य जगत की सत्य मान लेता, तो भी उसकी कला के स्वरूप को हानि हानि की संभावना नहीं थी। क़ोचे को यहो तो कहना था कि सहज ज्ञान की अन्त प्रक्रिया मानसिक होती है भौतिक नहीं। और यह मानन में किने प्राप्त हो सकतो थी कि अंतःप्रक्रिया भौतिक नहीं हो सकती ? इसके लिए सम्पूर्ण बाह्य भौतिक जगत को अमलव ठहराने का अष्ट अनावश्यक ही था।

सत्य की बात केवल इतनी है, कि क़ोचे न तो कना की प्ररणा बाह्य जगत से मानता है और न बाह्य पदार्थों के रूप में उसका अधिव्यक्ति ही स्वीकार करता है। उसकी उक्ति कि क़ना भौतिक तथ्य नहीं है, का इसी अर्थ में अर्थ करना चाहिए।

स्पष्ट है कि क्लोवे ने कला के समस्त व्यापार को व्यक्ति-मानस के भीतर ही सीमित कर दिया है। उसकी कला, आकारा-बुझ की भांति न कुछ से जीवन उस खीचती हुई कर्मती-मूसती रहती है और आलोचक-आंग के दृष्टि पथ से मग सदा के लिए अदृश्य रहती हुई अपने कल्पित सौन्दर्य-भाव में समाधीन रहती है। समुद्र के मध्य में किसी घटान पर लड़े हुए उनुग सौध-मन्दिर में किसी सुन्दरी राजकन्या की भांति, जिसे आत्र एक किमो ने नहीं देखा, वह बन्दिनी है।

तो क्या कला अथवा सहजज्ञान की अभिव्यक्ति होती ही नहीं? यदि अभिव्यक्ति से अर्थ बाह्य भौतिक अभिव्यक्ति से है तो क्लोवे का कहना है कि वह कभी नहीं होती। कारण यह है कि मानसिक प्रक्रिया की मूदमता को भौतिक पदार्थों की स्पृशता प्रकट कर ही नहीं सकती। ध्वनि अथवा रंग, भीतरी सहजज्ञान को, जो ध्वनि-रहित और रंग-रहित है क्या कर अभिव्यक्त कर सकते है? शरीर, क्याकर अगरीही को प्रकट कर सकता है? दूसरी ओर, यदि अभिव्यक्ति से अर्थ लिया जाता है मानसिक विम्ब की पूर्णता का, तो प्रत्येक सहजज्ञान की स्थिति यदि वह वास्तव में सहजज्ञान है, अनिवार्य रूप से अभिव्यक्त होती है। क्लोवे की तो मान्यता है कि सहजज्ञान स्वयं ही अभिव्यक्ति है¹। दोनों में भेद करना एक प्रकार का मतिभ्रम है। सहजज्ञान और अभिव्यक्ति के इस अन्वेषण के कारण ही क्लोवे के कला-दर्शन का 'अभिव्यक्तिवाद' की संज्ञा मिली है।

क्लोवे के मत में कला कोई यांत्रिक क्रिया नहीं है। यह अस्पष्टचित्त विम्बों की भीड़भाड़ नहीं है जिसमें किसी प्रकार की एकता का सूत्र नहीं होता। वास्तव में सहजज्ञान नितान्त कसारमक है जिसमें अनुभूति का चाया विविध विम्बों को परस्पर अक्षिप्त कर उनमें एकता स्थापित करता है और उसे समीकता प्रदान करता है।

हमारा अस्तित्व निरन्तर प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर विम्ब अथवा घट-विम्ब निमित्त करता रहा है जो या तो भावे घट कर बुद्धि के सहयोग से धारणा (Concept) बन जाते हैं अथवा लोट फेर पुनः आधारण विम्ब की स्थिति ग्रहण कर लेते हैं। जब

1 Every true intuition or representation is also expression. That which does not objectify itself in expression is not intuition or representation, but sensation and natrualty. The spirit does not obtain intuition otherwise than by making forming expressing — Aesthetics as Science of Expression and General Linguistic Translated by Douglas Austin

हमारी कल्पना, बिम्बों पर कुछ काल तक सक्रिय बनी रहती है और उन्हें नितान्त स्पष्ट रूप में देखने लगती है, सब मानस की वह भवस्या विशेष, सहजज्ञान अथवा कला को जन्म देती है। बिम्बा में एकता स्थापित करते हुए उन्हें सहज-स्पष्ट रूप में देखना ही सहजज्ञान है, और यही अमिष्यक्ति है। ध्यान में रखने की बात यह है, कि ये त्रिभू मानसिक बिम्ब हैं, मस्तिष्क पर बाह्य भौतिक पदार्थों के प्रतिकलित होने वाले रूप नहीं।

यह सत्य है, कि क्लोचे के अनुसार एक ऐसी स्थिति भी प्राप्ती है, जब कलाकार, यदि वह चाहे, तो (यह अनिवार्य नहीं है) अपनी अमिष्यक्ति को, जो नितान्त मानसिक है, बाह्य भौतिक रूप भी प्रदान करे। किन्तु, हम बाह्यारमक अमिष्यक्ति का वास्तविक या कलात्मक अमिष्यक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कोई कवि अपनी सहजानुभूति को शब्दों के रूप में लिख कर या बोल कर प्रकट करता है तो यह कला नहीं है, क्योंकि यहाँ इन्द्रिय प्रयत्न होने से अनुभूति की सहजता भंग हो जाती है। ये बाह्यीकरण (Externalisation) के प्रयत्न केवल स्मृति-चिन्ह हैं और उन्हें जब हम सुन्दर कहते हैं, तो हमारा आशय केवल इतना ही है कि उनकी सहायता से हम मानस की उन दशाओं का पुनर्जनन कर सकते हैं जब हमें सुन्दर सहजानुभूतियाँ प्राप्त हुई थीं।

क्लोचे ने कला को इतना व्यक्ति-आपेक्ष बना दिया है कि कला की आलोचना के लिए कोई स्थान ही नहीं रह गया है। कलाकार के मानस में प्रकियुक्त होकर आलोचक यह देखने में असमर्थ है कि बिम्ब अपने अकारण और स्पष्ट रूप में उभर सकता है अथवा नहीं। दूसरी ओर, काव्य, चित्र, मूर्ति, स्वर आदि जो कला के बाह्य भौतिक रूप उपलब्ध हैं, वे अपनी भौतिकता के कारण आलोचक के भीतर वही मानसिक प्रक्रिया क्यों कर उत्पन्न कर सकते हैं, विशेष कर जब कि क्लोचे ने सहजज्ञान को अस्वीकृत एवं अनावर्त माना है ?

इस कठिनाई को क्लोचे ने स्वीकार किया है, किन्तु फिर भी, उसका कहना है कि यद्यपि भौतिक कला-श्रुतियाँ आलोचक का सर्वांश में कलाकार की अन्तःस्थिति तक नहीं पहुँचा सकती, तथापि, यदि उसके पास कमन्सक रुचि हो, शिक्षित कल्पना हो और ऐतिहासिक गवेषणा की उपलब्धियाँ हों तो वह कलाकार के मन की उस सहजायम्या तक माग बना सकता है, जहाँ कला का जन्म हुआ था। पर, न नी मन सम होगा, न राधा नाचेगी।

वस्तुतः क्लोचे ने अमिष्यक्ति को आन्तरिक मानकर बड़ी गड़बड़ की है।

जहाँ शोध सभी सौन्दर्य शास्त्रियों ने उसे भौतिक स्वरूप प्रदान करना आवश्यक समझा है। प्रोचे ने उसे अन्तर्मुखी बना लिया है। 'मा' को कहां हूँदे बन्दे, मैं तो तेरे पास म, वाली स्थिति है। इसका परिणाम यह हुआ है, कि एक ओर तो बुरे से बुरा विषय भा कला की सामग्री बनने लगा, कारण नि बना तो रूप के स्पष्ट स्वरूप में है, प्रतिपाद्य विषय में नहीं, दूसरी ओर 'कला' के नाम पर मनमानी कलाओं (eccentricities) की अभिव्यक्ति एवम् रचा होने लगी।

कला के सम्बन्ध में जो द्वितीय श्रमण-कथन प्रोचे ने किया है, वह यह है कि कला कोई उपयोगितावादी कार्य नहीं है। आज के इस युग में जब कला को प्रत्येक ज्ञान क्षेत्र में ज्ञान-क्षेत्र ही नहीं व्यवहार-क्षेत्र में भी, साधन बना कर उभरा शोषण किया जा रहा है, कला के उपयोग का निषेध कर, प्रोचे ने एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। कला, आज अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति, एवं अन्य अनेक ज्ञान-क्षेत्रों की सारी बन कर रह गई है। क्या कला एक साधन मात्र है या कि वह अपने आप में साध्य है ?

प्रोचे ने कला को 'साध्य' माना है। उसके निरपेक्ष और स्वतन्त्र अस्तित्व की उसने घोषणा की है। उनका कहना है कि इस विश्व में पूर्णतया स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर अस्तित्व तो केवल ब्रह्म (Absolute) का ही है शोध सभी वस्तुएँ एक ओर निरपेक्ष है तो दूसरी ओर सापेक्ष।

जिन प्रकार भावर्स, सामाजिक चेतना की सोपान-मूलक व्याख्या करता है उसी प्रकार प्रोचे व्यक्तिगत चेतना की चक्र-मूलक व्याख्या उपस्थित करता है। कलाकार संवेदनों (Sensations) को एक निश्चित स्पष्ट विषय में प्रतिरूपित कर सहजज्ञान की स्थिति में पहुँचता है और अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करता है। जिस उद्देश्य को लेकर वह धना या उसकी पूर्ति हो चुकी है। किन्तु कलाकार व्यक्ति, केवल कलाकार ही नहीं होता वह मनुष्य भी होता है। मन इस मनुष्य की सन्तुष्टि के लिए मानस की क्रियाएँ एक भिन्न रूप में आगे बढ़ती हैं। यहाँ, यह नहीं समझना चाहिए कि सहजज्ञान की क्रिया का स्थान कोई अन्य क्रिया—यथा सुख (Pleasure), उपयोग (Utility)—से लेती है बल्कि स्वयं सहजज्ञान की, या कहना चाहिए स्वयं आत्मा की क्रिया, सामने दिखाई पड़ने वाले अन्य लक्ष्य की पूर्तिहेतु एक नवीन रूप ग्रहण करती है। आत्मा की क्रिया का यह नवीन रूप, जिसे प्रोचे धारणा (Perception) की संज्ञा देता है, मूल सहजज्ञान की क्रिया से ही उद्भूत होता है।

उन लोगों को जो भ्रम में मानता है या चित्र (Image) और धारणा (Perception) को एक ही क्रिया समझते हैं। उनकी मान्यता है कि धारणा पूरा पूरा निष्पात्यक ज्ञान है जन्मद है। 'धारणा' से ज्ञान की स्थिति इतिहास की दृष्टि है। जो वास्तव में घटित हो चुका है, उसके प्रति धारणात्मक धरना, इतिहास है और विश्व-घटनाओं के मूल में कार्य करने वाले नियमों की चेतना, दृष्टि है। इतिहास तथा दर्शन, दोनों का जन्म धारणा से ही है। इन दोनों के अतिरिक्त, प्रकृत विज्ञानों (Natural Sciences) और गणित (Mathematics) का प्रादुर्भाव भी धारणा से ही होता है, जब उस पर मानव की प्रज्ञा (Intellect) कार्य करती है। इतिहास तथा दर्शन तक तो हमारा ज्ञान सैद्धान्तिक (Theoretical) रहता है किन्तु प्रकृत-विज्ञान और गणित के क्षेत्र में पहुँचकर वह व्यावहारिक रूप लेने को मजबूर पड़ता है।

इसके बाद अर्थशास्त्र तथा भाषा-शास्त्र की चेतना का रूप उन्नि होता है और बुद्धिजीवी व्यक्ति को व्यवहार-कुशल व्यक्ति बनना पड़ता है। जीवन की नित नवीन स्थितियों नये सहजज्ञान की, नई कला की, नये संघर्ष की प्रेरणा देने लगती हैं। इस प्रकार अन्तिम चेतना-स्थिति प्रारम्भिक चेतना-स्थिति से सद्गुण हो जाती है और अन्त पूरा हो जाता है।

अब यदि पूछा जाय कि चेतनास्था की इन विभिन्न स्थितियों—रिक्त धारणा, इतिहास, दर्शन, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र—में से कौनसी स्वतन्त्र या आत्म निर्भर है और कौनसी पराश्रित है, तो यह व्यर्थ है। यदि सापेक्षिक रूप से स्वतन्त्रता की बात हो, तो सभी स्वतन्त्र हैं और यदि निरपेक्ष (Absolute) मान्यनिभरता की बात हो तो केवल आत्मा ही सत्य है।

अब यदि किसी को कला में, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष दिखाई पड़ने ह, तो यह ठीक ही है, क्योंकि बीज में अक्षर, पादप, फूल और फल भी निहित हैं किन्तु यदि वह कला का अन्य चेतना-स्तरों के साथ एकाकार समझ बैठता है, तो निश्चय ही भ्रम करता है। कारण यह, कि उसने समय के प्रवाह को घुना देने की चेष्टा की है। अन्य चेतना-स्थितियाँ 'कला' की पूर्ण या उत्तर स्थितियाँ हो सकती हैं, स्व-स्थिति नहीं हो सकती। इस प्रकार कला का अर्थ स्वतन्त्र अस्तित्व है और उस पर इतर उद्देश्य योजना नितान्त अनुचित है।

कला कला ही के लिये है। किन्तु इस उक्ति का अर्थ यह नहीं है कि कलाकार अपनी कला में पूर्ण दत्तचित्त होकर मग्न रहे। कोई बाह्य अक्षर

उम पर न हो अपनी भास्मा की साहो म हो वह बना-निर्माण करे, अपने भीतर के प्रकाश से ही वह प्रेरित हो ।

कला के सम्बन्ध में तीसरा ऋण-बचन है कि वह साधार-मूलक कार्य नहीं है । साधार-लेन के भीतर मनुष्य की केवल वे ही क्रियाएँ समाविष्ट हैं, जो इच्छित हो । जिन क्रियाओं के पीछे इच्छा का वेग नहीं है जो सहज, स्वतः स्फूर्त और निरर्ग हैं उनके सम्बन्ध में साधार-परक निष्णय की व्यवस्था नहीं दी जा सकती । कला या सहजज्ञान ऐसी ही एक क्रिया है । अतः वह साधार या नैतिक जगण से बाहर की वस्तु है । वह न अच्छी है न बुरी वह मात्र कला है । सहजज्ञान को सामग्री, नैतिक दृष्टि से भली या बुरी हो सकती है, किन्तु सहजज्ञान स्वयं में, न तो प्रशंसनीय है और न निन्दनीय ही ।

आज कला के सम्मुख नैतिकता का प्रश्न जोरों से उठाया जा रहा है । कला पर नीति का बाह्य आन्तर्ग योग जा रहा है । कला और साहित्य ऐसा होना चाहिए, जो समाज को सद् की ओर प्रेरित करे तथा असद् से विमुक्त करे, जो समाज के दोषों को दूर करने में तथा व्यक्ति के चरित्र-निर्माण में सहायक हो सके । किन्तु यह प्रश्न चाहिये का है, जो कला के साथ चल नहीं सकता । 'चाहिए' की पृष्ठभूमि में इच्छा का प्रयत्न स्पष्ट दिखाई पड़ता है । और यदि कलाकार किसी इच्छा का लेकर अपने काय में प्रयुक्त होगा तो उसका परिणाम 'कला न हो कर, कुछ और होगा ।

अतः समाज के नैतिक मान कला-लेन में बहिष्कृत है । कला को साधार शास्त्र की भाँति-बाह्यक बनाने का दुराग्रह क्योंकि सहज किया जा सकता है ? कहा जाता है कि यदि कला और साहित्य समाज की सामयिक नैतिक समस्याओं के समाधान में सक्रिय रुचि नहीं दिखायेंगे, तो उनका महत्त्व घिरता चला जाएगा । इस दुराग्रहपूर्ण चुनौती का उत्तर क्रोध से बहुत ही स्पष्ट और समर्थ शब्दावली में दिया है ^१ ।

^१ *The end attributed to art of directing the good and inspiring hor or of evil of correcting and ameliorating customs is a derivation of the moralistic doctrine These are all things that art cannot do any more than geometry which however does not lose anything of its importance on account of its inability to do this and one does not see why art should do so either The Essence of AEsthetic.*

उसी अर्थ में, कला और नैतिकता सम्बन्धी प्रश्न पर विचार करते हुए क्रांचे ने उपर्युक्त विचारों के ठीक विपरीत कथन कर दिया है, और ऐसा प्रतीत होता है कि समाज के बारम्बार के आग्रहों और मत्सनाओं के कारण उसने पुटने तक गिरे हैं। क्रांचे के कथन का अविकल हिन्ने रूपांतर यहाँ दिया जा रहा है

'नाति-रहित कला, कला जो स्वयं के लिए 'निविकार सुन्दरता की संज्ञा अपनाती है, और जिसके सम्मुख गंध-धूर जमजा है, जैसे वह पिशाच के किसी विरोध द्वारा धाराधित नार्द प्रासुरी दबी हो, विषादित होन लगती है और जिस जीवन से वह धारदित है, जिससे वह उद्भूत होती है, उसमें नैतिकता के प्रभाव के कारण वह छड़ा, विनाश और मन आचत्म्य मात्र रह जाती है" ।

क्रांच के कला-दर्शन में मिलने वाले अनेक अन्तर्विरोधों में से यह एक है। ये अन्तर्विरोध ही क्रांचे की विचार-धारा को समझने में सबसे बड़ी बाधा है। ये पत्तिर्वा यन् कला (सहजज्ञान) के सम्बन्ध में न हो कर, बाह्य कला-कृतियों के सम्बन्ध में होतीं तो असंपत्ति उत्पन्न न होती। बाह्य कला-कृतियों का निर्माण में प्रवृत्त होते ही कलाकार की कला का चेन पीछे छूट जाता है और वह उस जीवन में प्रवेश करता है, जहाँ अर्थशास्त्र है, राजनीति है, धना-बुरा है, विज्ञापन है और सभी कुछ है। यहाँ आकर क्रांच ने आलोचकों को पूर्ण स्वतंत्रता स्वीकृत की है, जो उसके कला-दर्शन के प्रकाश में उचित ही है।

धोष, और अन्तिम निषेध, जो क्रांच ने सहजज्ञान के सम्बन्ध में किया है, यह यह, कि कला धारणात्मक (Conceptual) ज्ञान नहीं है। धारणात्मक ज्ञान, जैसा कि पीछे देखा जा चुका है, सदा तन्मपरक होता है। उसका उद्देश्य सत्य और अमत्य में भेद स्थापित करना होता है। दूसरी ओर, कला में ऐसा कोई प्रयत्न नहीं होता, वह तो शुद्ध बिम्ब-ज्ञान या रूप-ज्ञान मात्र होता है।

अतः किसी कला-कृति (आगतिक, बाह्य नहीं) की समीक्षा करते हुए नार्द आलोचक यन् यह प्रश्न उठाता है, कि कलाकार ने जो बिम्ब उपस्थित किया है, वह ऐतिहासिक या दार्शनिक दृष्टि से सत्य है या असत्य, तो यह अर्थ का प्रश्न है। यह तो बँसा ही है जैसा किसी कथा या उपन्यास के अथम-नीच पात्रों की न्यायान्तम के अत्र के सम्मुख उपस्थित करना ।

कला की स्थिति बावतारनक ही है। उस स्थिति में अगोँही चिन्तन-अनन का, अथवा धारणा का मिश्रण होने लगता है कला विकृत होने लगती है और नर जाती है। कलाकार, जब आलोचक बनने की चेष्टा करता है अथवा सहजज्ञान के इन्द्रियातीत

मान्य का उपयोग छोड़कर जीवन का नया बनन लगना है, तभी कला नष्ट हो जाती है।

यही कारण है कि कला का प्रकृत-विज्ञान तथा गणित-विज्ञान से भारी विरोध है। विरोध इतिहास तथा दर्शन से भी है किन्तु कम ही, क्योंकि कला की भाँति, ये दोनों भी -मैथ्यात्मिक ज्ञान की शान्ताएँ हैं और उनमें किसी सीमा तक समानता है ही। काव्य तथा वर्गीकरण, तथा इसमें भी बढ़कर, काव्य और गणित में उगुनी ही-सहमति है, जितनी भाग और पानी में है। इतना होने पर भी, ऐसे कवि भी मिल जाते हैं जो काव्य और गणित में वैवाहिक सम्बन्ध-भूत स्थापित करन लगते हैं

*I have measured it from side to side
Its three feet long and two feet wide*

घण्टा

Ten thousand saw I at a glance

इस प्रकार, 'कला को सहजज्ञान के रूप में परिभाषित करना क्रोचे की दृष्टि में, उसे सम्यक् रूप में व्यक्त कर देना है। पर देखने की बात यह है कि प्रायः ने सहजज्ञान को ही कला माना है, सहजज्ञान को ही अभिव्यक्ति माना है, सहजज्ञान को ही सौन्दर्य माना है और सहजज्ञान का ही संगीत माना है। सहजज्ञान क्या हुआ ब्रह्म का 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' हो गया। ऐसी स्थिति में 'स्वमेव माता च पिता स्वमेव वाणी उक्ति का स्मरण हो जाना भी स्वाभाविक है।

सामान्य-जन और साहित्यकार

। । जन मानव-जाति में ब्रह्मन् सभी प्राणियों का सामान्य सन्निपात है। स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, विद्वित्-विद्वान्, गृहस्थ-सन्यासी, राजा-प्रजा-सभी प्रकार के मानव-प्राणी जन्म की विस्तृत एवं व्यापक परिधि के अन्तर्गत ब्रह्मदे हृष्ट किन्तु हैं। यह परिधि स्वयं में एक विद्यालय एवं पूर्ण जन-सागर का निर्राधर कर्तवी है, जिसमें जन के विभिन्न रूपों की मिल्न-मिल्न स्थितियाँ हैं। उन स्थितियों में एक स्थिति ऐसी भी है, जो जीवन को सामान्य सामान्यता के कारण सामान्य-जन का वर्ग बनाती है। श्रेय जन, जो सामान्य धरातल पर श्रेय मिल्नताओं के होते हुए भी सामान्यता का अनुभव नहीं कर पाते, सामान्य-जन से पृथक् स्थिति प्राप्त करते हैं। इस कोटि के जन विरोध-जन की संज्ञा पाते हैं, जिनकी विरोधता या सामान्य-जन से मिल्नता-गुण या श्रेय के आधार पर निर्धारित होती है। इस दृष्टि से दार्शनिक या विद्वान् यदि सामान्य-जन से पृथक् होकर "विरोध की कोटि में गुणाधिक्य के कारण स्वात्र पाता है, तो विद्वित् भी दोषाधिक्य के कारण उची कोटि में समा जाता है, क्योंकि ये दोनों ही जन सामान्य-जन के स्तर से मेल नहीं लाते। इतना होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि जन-परिधि में सामान्य-जन की कोई निर्येच स्थिति है। तत्सुत्र' दोनों की पूर्णता एक प्रतिस्व की मिल्नता का अभाव अन्योन्याश्रित है।

जन और सामान्य-जन के विषय में राजर्तिक धारणाएँ देव और काल के अनुसार प्रायः परिवर्तित होती रहीं हैं। प्राचीनकाल में सामान्य-जन को श्राधित होने का अधिकार था। शासन-का अधिकार सामान्य-जनवत 'रामा' को प्राप्त था, जो जन-परिधि में स्थित होकर भी स्वयं को ईश्वर का प्रतिनिधि मानता था। सामान्य-जन के देशों में जन धारणा प्राप्त सिद्ध हो चुकी है। यह शमन-कर्ता और शासित दोनों के अधिकार सामान्य-जन की सम्पत्ति मात्र लिए हुए है। सामान्य में भी सामान्य-जन की स्थिति के सम्बन्ध में गुणजन प्रारणार्थ बर्तनी जा रही है। जन-परिधि में सामान्य-जन की सामाजिक स्थिति जन मात के शिवाय नहीं है। पवित्र-परायण धर्म ही जन मान का हित माना जाये

लगा है। अब 'विरोध जन' के सामाजिक हित सामान्य-जन के सामाजिक हितों से संपर्क करने की शक्ति से रहित हो जा रहे हैं। अब जन-परिधि के किसी भी बिन्दु से उठी हुई विचार-तरंग सब तक सवमाह्य नहीं होती, जब तक वह सामान्य जन के हित का घरातल पूरा नहीं स्पर्श न करे। नैतिक मान्यताएँ भी बड़ी तेजी से बर्धन रही हैं। 'विरोध जन' द्वारा निर्धारित पुरातन नैतिक मूल्य भ्रष्ट हो जा रहे हैं तथा वर्तमान में भी वे ही नैतिक आधार स्वीकार किये जा रहे हैं, जिसका सामान्य-जन की स्वीकृति प्राप्त है। पुरातन दार्शनिक मान्यताएँ आज के सामान्य-जन के जीवन का स्पर्श नहीं कर पा रहीं। जीव और जगत् 'विरोध जन' की दृष्टि में अभी भावा-जय से और सामान्य-जन ने भी उस समय झूठ बोल करके उस पिछले को स्वीकार किया था, किन्तु आज के सामान्य-जन की दार्शनिक उपलक्षियों में उसके जीवन के अनुभव समाहित हो गए हैं। अब वह बाह्य निर्देशों का अनुसरण करने के लिए उद्यत नहीं। आध्यात्मिकता के स्थान पर आज का सामान्य जन भौतिकता की ओर अधिक आकर्षित हो रहा है। अभी ईश्वर या प्रकृति की सत्ता स्वीकार्य रही हो, किन्तु आज का सामान्य-जन सबसे पहले अपनी सत्ता का उद्घोष करने का साहस कर रहा है।

जन और सामान्य-जन के सम्बन्ध में बदलती हुई धारणाओं की प्रक्रिया में साहित्यकार का सर्वाधिक योग है। उसने सामान्य-जन की स्थिति को स्वीकृत कर 'विरोध जन' का अनुचित आधिपत्य राजनीति, समाज, धर्म तथा दर्शन आदि के क्षेत्रों में धीरे-धीरे समाप्त करने का भगीरथ प्रयत्न किया है। उसने पुरातन मान्यताओं को सामान्य-जन के वर्तमान जीवन के परिवेश में भली प्रकार परख कर नई दृष्टि और अनुभूति प्रदान की है। एक समय था जब सामान्य-जन के प्रति उसकी दृष्टि में अपेक्षा व्याप्त थी किन्तु आज वह सामान्य-जन की भाँखों से समस्त जन-परिधि का व्यवहार करता है। उसकी अनुभूति के स्रोत पूर्णतः बदल गए हैं। अब वह सामान्य-जन के हृदय में प्रविष्ट होकर अपनी अनुभूति-निधि का संवय करने लगा है। अतः अब उसकी दृष्टि और अनुभूति सामान्य-जन के घरातल पर अत्यन्त व्यापक रूप में संघटित एवं विकसित होने लगी है। प्राचीन काल में प्रायः सभी देशों में साहित्यकार ने ईश्वर, देवता, राजा, आदि को दृष्टि में रख कर जन जीवन को देखा था। अतः सामान्य-जन से उसका निकट का संबंध नहीं था। किन्तु आज का साहित्यकार अपनी दृष्टि और अनुभूतियों को व्यापक बनाकर सामान्य-जन की भावनाओं और आर्षादाओं को आत्मसात् करने में संलग्न है। अतः आज सामान्य जन से अभिन्नता स्थापित करने में वह सफल हो रहा है।

मध्यकाल तक सामान्य-जन की बड़ी विचित्र स्थिति थी। मशिदा और अज्ञान के कारण वह राजा, पुरोहित, दार्शनिक, साहित्यकार एवं ध्यायी आदि सभी वर्गों के 'विरोध जन' द्वारा शायित एवं उत्पीड़ित था। उसकी चेतना प्रसुप्त एवं मीमा कुण्ठित थी। 'विरोध जन' उसे अपने मीमा की वस्तु मानता था। यह दशा तक तक रही, जब तक साहित्यकार स्वयं का 'विरोध जन' की स्थिति में अनुभव करता रहा, किन्तु जब उसने अपनी दृष्टि बदलकर वस्तु-स्थिति को समझ तो वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह सामान्य-जन की अनुभूतियों से निर्मित होने वाली ऐसी भाव-सत्ता है जिसका उपयोग विरोध के दृढ़ मान में नहीं जाना चाहिये। आज उसने आधुनिक काल में वैज्ञानिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में उठने वाले परिवर्तनों की धौंधी को बड़ी तीव्रता से धारणात कर गई अतः सामान्य-जन तक पहुँचाया, अतः जन-जागरण की महान् घटना सामने आई, जिसने जन-शक्ति के निर्माण का पथ प्रशस्त किया। मध्यकाल तक सामान्य-जन प्रमुखावस्था में था अतः उस समय तक जन-शक्ति के संगठन का कोई विशय स्वरूप अदृश्य नहीं होता। धर्म और जाति के आधार पर जो संगठन थे, वे जन-शक्ति के प्रतीक नहीं थे। आधुनिक काल में सबसे पहले धर्म के परम्परागत आधार पर ही सामान्य-जन ने अपना संगठन कर जन-शक्ति को कल्पना की। योरोप में इसी शक्ति के आधार पर राजाओं को गद्दी से उतारा गया। पोप की सत्ता समाप्त की गई। भारत में भी ब्रह्म समाज और धार्मिकमाज जैसी संस्थाएँ जन-शक्ति के संगठन की सूचना देती हुई धर्म के आधार पर ही उभरीं। धीरे-धीरे राजनैतिक और सामाजिक आधार पर जन-शक्ति के विभिन्न रूप सामने आये। जन-चेतना का इन सभी रूपों में धीरे-धीरे विकास हुआ। अतः जनतांत्रिक समाज के उद्भव की नींव पड़ी एवं परम्परागत सामाजिक जीवन की दृष्टियाँ, धारणाएँ तथा नीतियाँ बदल गईं। समाज में केवल वे जीवन-मूल्य ही स्वीकृति पाने लगे, जो जन-तांत्रिक आधार पर तब प्राप्त थे। प्रजातान्त्रिक विरपद धारणा के लिए आड़े वे कितने ही घेठ क्यों न हों जीवन-दृष्टि में कोई स्थान रोज न रद्द गया। इसी प्रकार अनेक सामाजिक कर्म आड़े बड़े नैतिक दृष्टि से निरुद्ध ही क्यों न हो जनतांत्रिक आधार पर सर्व-स्वीकृति पाकर उन्मूल्य माना जाने लगा। अतः धारणाएँ आज हम प्रत्यक्ष यह स्थिति देख रहे हैं कि नारी के प्रति परम्परागत सामाजिक जीवन की दृष्टियाँ धारणाएँ एवं नीतियाँ बड़े वेप से कम रही हैं। हम देश के माय पर बूढ़ा नारियों के भी नारीत्व के अधिक मूल्य को अनुचित और धार्मिक घोषित करने हैं, किन्तु सांस्कृतिक कार्यधर्मों में

पोइशी पुमारियों का सावजनिक नृत्य पुरस्त्व होना ह । धन धन उचित-अनुचित या नतिक-अनतिक का कोई सैदान्तिक प्रश्न नहीं रहा । मूल प्रश्न यह ह कि किसी काम के लिए सार्वजनिक स्वीकृति में कौनसा स्थान निश्चित ह ?

वास्तव में आज के युग में जन-चैतन्य और जन-शक्ति के परिणाम-स्वरूप परम्परागत जीवन-मूल्य पूर्णतः परिवर्तित हो गए हैं । हमारा सौन्दर्य-बोध नए छंदों का स्वरूप करने लगा है । नए जीवन की नई मान्यताएँ स्थापित हाठी जा रही हैं । संसार में एक समय था, जब सामान्य-जन के भोग पर धर्म और दर्शन का प्रभुत्व था और विरोध-जन के लिए वे धर्म और दर्शन ही भोग के साधन थे । परन्तु आज की वास्तु-स्थिति कुछ दूसरी ही है । आज सामान्य-जन भोगवादी हो रहा है । वह धर्म और दर्शन का भी भय करना चाहता है । उसके नए जीवन मूल्य पुरातन मूल्यों का मद्भाग्य कर रहे हैं । जन-चैतन्य की सीमा तक तो यह क्रिया उचित दिशा में जा रही है । यह ठीक ही है कि आज का सामान्य-जन परम्परागत रूढ़ियों और धर्म-विश्वास का अन्त घेतन्य द्वारा भंगण करता जा रहा है और नए प्रगतिशील मान्यताओं को जन्म दे रहा है किन्तु जन शक्ति के आधार पर वह विरोध जन की दुर्बलता से लाभ उठा कर जहां सत्य का मद्भाग्य करने चल पड़ा है, वहाँ उसके लिए अनौचित्य की भीमा धारम्भ हो गई है । यह ठीक है कि जो नए जीवन-मूल्य प्रकार में आ रहे हैं, उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, किन्तु जन-चैतन्य के स्थान पर जन-शक्ति मात्र को सशक्त बनाकर भी तो उनको आत्ममातृ नहीं किया जा सकता ।

वास्तव में यही वह स्थल है जहाँ सामाजिक गक्रान्ति की प्रक्रिया प्रचल हो उठी है । आज हमें सामान्य-जन के जीवन में उस प्रक्रिया का प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है । साहित्यकार की दृष्टि उस प्रक्रिया के माध-माध प्रचल रही है । यह बड़ी सावधानी से पुरातन और नवीन का पर्यवेक्षण कर रहा है । वह इस सक्रान्ति काल में अपनी दृष्टि को संकुचित बनाकर खड़ा नहीं रह सकता । उसे अतीत वर्तमान और भविष्य तीनों ओर दृष्टि का अनुपात उचित रखना है । ऐसा करने के लिए उसकी दृष्टि में पर्याप्त विकास हो रहा है । अब वह इतिहास, धर्म और दर्शन की पीछे छूटती हुई सीमा-रेखाओं में बँधा रह कर न तो अपने वर्तमान को देखना चाहता है और न वह भविष्य-दृष्टि की सूक्ष्म दृष्टि ही लो देना चाहता है । उसका व्यक्तित्व प्राचीन साहित्यकार के समान अब खण्डित होकर किसी काल या देश की परिधि में सीमित रहना नहीं

साहता । अब वह एक सर्व-व्यापी व्यक्तित्व का अपने भीतर विकास कर रहा है । उसकी मनीषा के नए-नए द्वार खुल रहे हैं, किन्तु पुरातन द्वारों को भी उमन बन्द नहीं कर लिया । अब वह जो कुछ निर्णय करता है, उसके अनुसार वह पहले से चले आने वाले शाश्वत या निरंतर नवीन रहने वाले किमी नए आचार पर सर्वत्र कर्न की चेष्टा करता है । वह अपनी सभी शक्तियाँ लगाकर जन-शक्ति की चेतना के उन्नत पक्ष को उभारने में दत्त-चित है । यही उसका प्रेय भी है ।

गत दो शतकियों में सामान्य-जन के साथ चलकर साहित्यकार ने अनेक जन-क्रान्तियों को जन्म दिया है । योरप के अनेक सिंहासन उन क्रान्तियों से हिले और शासन सामान्य-जन के हाथ में आया । मध्यकाल तक जिस यारोप में सामान्य-जन विशेष-जन का क्रीत-दास बनकर पशु-जीवन यतीत करने के लिये पिशाच, उमी योग्य में जन-क्रान्तियों ने उसे विशेष-जन का माग-निर्माता बना दिया । साहित्यकार का प्रेरणा से ही एशिया में भी नव-जागरण की लहर आई और साम्राज्यवादा का भूत भयभीत होकर उन्नत पैदा भागा । साहित्यकार जन-जागरण की इस अनवरत प्रक्रिया में एक अत्यन्त प्रेरक तत्व बनकर स्थित ही नहीं रहा अपितु उसमें उसने सक्रिय योग भी दिया । विभिन्न जन-क्रान्तियों का चेतन्य को धारणकर उनसे नए सर्वत्र का भीत गए । रुढ़ियों और भ्रष्ट-प्रवृत्तियों के पार्यों को काट कर जन-शक्ति के उभरते हुए न्वार को उसने उचित दिशा प्रदान की । उस न्वार में पुरातन का समस्त पाप बह गए । जन-जीवन में ऊपर धाई हुई समस्त काई हट गई और नया मुमन-विकास दृष्टिगोचर हुआ । हर जन-क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप किसी नए रूप में जन-शक्ति की प्रतिष्ठा हुई और साहित्यकार ने उसको बरेतय बनाया । यह उसी के प्रयत्न का परिणाम है कि मात्र सामान्य-जन को जागी सब शिष्टाओं में मुक्क हो रही है, मुक्कियों के बन्धन खुल गए हैं, पार्यों के लिए प्रगति का पथ प्रशस्त हो गया है, पार्यों में उन्नत शक्तिय की रेखाएँ उभर आई हैं तथा पारियों और पारियों को कर्न का मुक्त विहव उपलब्ध हो रहा है ।

सामान्य-जन ने जन-परिधि में अपनी उचित शक्ति के लिए जो सपर्य साहित्यकार के सहयोग से किया है, उसमें भी भयंकर सपर्य उसे करने भीतर के व्यक्ति और समाज में करना पड़ा है । उसकी ये दोनों स्थितियाँ भी अपनी सापक्षता नून कर प्रायः अन्त पारणियों को जन्म देती रही है । नागनिक या चरनीनिद्र

के रूप में विराप—जन ने उन भ्रान्तियों की वृद्धि की सतत चेष्टा की है, ताकि सामान्य—जन का आन्तरिक संघर्ष समाप्त न हो जाय।

संसार के अधिकांश दार्शनिक और राजनीतिज्ञ जानबूझ कर व्यक्ति और समाज के हितों के मध्य विमात्रन रखा प्रकृत करने रहे हैं। किन्ती न इन धारणाओं को बस दिया है कि व्यक्ति सर्वोपरि है, उस समाज के हितों का ध्यान रखने की कोई आवश्यकता नहीं। तो किन्ती ने यह धारणा फैलाई है कि समाज के हित में ही व्यक्ति का हित सन्निहित है, अतः उसे समाज के हितार्थ बलिदान हो जाना चाहिये। परन्तु व्यक्ति और समाज न या तो संघर्षात्मक स्थिति स्वीकार की है या दोनों द्वन्द्वात्मक स्थिति में रहकर अपना विकास रोकते रह रहे हैं। परन्तु वास्तव में वे धारणाएँ ही निराधार हैं, जो या तो व्यक्ति और समाज को एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्व बनाने की शक्ति को नष्ट करती हैं या एक ही निशा में एक को पीछे छोड़कर घाये निरुत्थान करने की भ्रान्ति उत्पन्न करती हैं। वास्तविकता यह है कि व्यक्ति ही समाज है और समाज ही व्यक्ति है। यदि व्यक्ति समाज का मूलाधार है तो समाज व्यक्ति की शक्ति है। अतः दोनों के संघर्ष और द्वन्द्व की प्रक्रियाएँ व्यर्थ ही नहीं, सामान्य—जन को घट कर हिलाकर उसकी शक्ति का हास करने वाली भी हैं। साहित्यकार एक द्रष्टा के रूप में इस संघर्ष को पहचानता है। वह व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों में समन्वय लाने का महान् कार्य करता है। व्यक्ति और समाज के समस्त संघर्षों एवं द्वन्द्वों के मध्य में स्थित होकर वह उनके वेग को शमित करता और उसके विनाशकारी प्रभावों को रोकता है। यदि साहित्यकार उस संघर्ष और द्वन्द्व में मध्यस्थ न बने तो सामान्य—जन का स्वतन्त्र अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह सकता। अतः यहाँ यह बात भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि साहित्यकार की समस्त साधना का परम ध्येय वह सामान्य—जन ही है जिसके हितार्थ वह व्यक्ति और समाज के संघर्षों एवं द्वन्द्वों में मध्यस्थता करता है।

भारतीय साहित्यकार में साधना के इस परम ध्येय की जब चेतना आई तभी उसने अपनी रचना में आधुनिक काल का साक्षात्कार किया। हिन्दी-साहित्य इस सत्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि रीतिकाल की संकीर्ण परिधि से हिन्दी साहित्यकार को बाहर निकालने में अग्रजो शिवा, ईसाई धर्म-प्रचार, प्रेस का प्रचलन, भारतीय संस्कृति का स्वाभिमान और उसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रादुर्भूत धार्मिक समाज आदि गौण कारण अवश्य बने, किन्तु राजाधर मिश्र के पर सामान्य—जन के सम्पर्क से उसे अपने मध्य के समन्वय में जो आत्म-चेतना प्राप्त हुई वही

उसको नई परिधि में जाने का मुख्य कारण थी। प्रथम हिन्दी-साहित्यकार ने अपने नए साहित्य में सामान्य-जन के गव-चेतन का साक्षात्कार किया तथा उसके सामने जीवन के अनेकानेक नये विषय प्रस्तुत हुए। अब वह जीवन की संकीर्ण परिधि में भ्रमण करने वाला विशेष जीवन रहकर स्वतः ही सामान्य की विपट भूमि पर आ गया।

हिन्दी साहित्यकार की इस नई स्थिति में एक बिन्दु ऐसा भी था, जब परम्परागत साहित्य की धारणाओं और माधुनिक साहित्य की नई धेतनाओं में संघर्ष हुआ। अनुभूति और अभिव्यक्ति के सभी क्षेत्रों में वह संघर्ष दृष्टिगोचर होने लगा किन्तु साहित्यकार ने कुशलता से विरोधी धारणाओं में समन्वय की स्थापना कर पुनः ही नए का वास्तव्य ओढ़ा तथा फिर धीरे-धीरे नूतन मान्यताओं की भी नींव रखकर नव चेतन का नई भूमि पर सर्जन किया। परिणाम-स्वरूप अब माधुनिक साहित्य उस स्थिति में आ गया है जहाँ उसमें सामान्य-जन का जीवन बिना किसी विरोध के अपनी पूर्णाभिव्यक्ति की विपट भाव-भूमि उपलब्ध कर रहा है। सामान्य-जन की अनुभूतियाँ माधुनिक साहित्य का शृंगार बनती जा रही हैं। आज क समस्त साहित्य में सामान्य-जन की महत्ता निर्विवाद रूप से स्वीकार की जा रही है और इस महत्वपूर्ण उपलब्धि का मूल कारण है साहित्यकार द्वारा जीवन के चरम चर्यों की पहचान। आज का साहित्यकार सामान्य-जन के प्रति एक विशाल तथा निर्मल दृष्टि से एवं पूर्ण निष्ठा लेकर चल रहा है। वह इस तथ्य को भली प्रकार पहचान चुका है कि उसके सर्जन का मध्यम मूल अधिकारी सामान्य-जन के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता।

साहित्यकार को सामान्य जनो-मुखी इस प्रतिभा ने साहित्य की अनेक नई विधाओं को अस्तित्व प्रदान किया है। रीतिकाल तक साहित्यकार की अनुभूतियों को अधिक व्यक्त करने वाली एक मात्र सशक्त विधा काव्य थी किन्तु अब अनेक साहित्यिक विधाएँ दिशा-निर्माण कर रही हैं। काव्य-रचना को भी सामान्य-जन ने अनेक नई प्रेरणाएँ प्रदान की हैं। पौराणिक मास्यों को जीवन में उतार कर और फिर धीरे-धीरे उनके स्थान पर मानव-चरित्र को स्थापना करने साहित्यकार ने सामान्य-जन की एक सशक्त प्रेरणा को ही स्वीकार किया है। आज का कवि जन-जीवन-निरपेक्ष किसी भी भाव-सत्य को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं। धर्म, धर्मकार आदि के आडम्बरों के नीचे से काव्यगत सत्यका उद्घाटन करने की प्रबल प्रवृत्ति भी सामान्य-जन की ही प्रेरणा का परिणाम है। नयासाहित्य ने पद्य

का रूप ग्रहण कर सामान्य-जन को स्वतः आत्मसमर्पण करने को चेष्टा प्रति-फलित भी है। उसमें जन-चरित्र के विभिन्न रूप उभर कर शाश्वत होते जा रहे हैं। व्यक्ति और वर्ग तथा भाषा और यथार्थ दोनों रूपों में मानव-चरित्र की प्रापुत्रिक क्या चाहिये में अन्वेषण हो रही है एवं मनोभूमि के विभिन्न रूपों का विस्तृत विस्तार स्पष्ट पारण पा रहा है। नाटकों में पुराण और इतिहास के कथानका का तिरस्कार होने लगा है तथा सामान्य-जन की विभिन्न स्थितियाँ सगठित हाकर क्या और चरित्र का रूप धारण कर रहे हैं। अन्य साहित्यिक विधाओं में भी विभिन्न रूपों में सामान्य-जन का जीवन अत्यन्त विस्तार एवं गहराई के साथ चित्रित हो रहा है। यह स्थिति इस बात का उत्कृष्ट प्रमाण है कि साहित्यकार जन-जीवन के ठोस धरातल पर जम कर खड़ा हो चुका है। उसकी कल्पना अत्यन्त ही ऊँची उठी किन्तु जीवन की उस धरती का तिरस्कार नहीं कर सकती। वस्तुतः यही वह स्थिति है, जो साहित्यकार के लिए शतान्तियों से अपेक्षित थी। यहाँ धारक साहित्यकार और सामान्य-जन के हित एवं दायित्व एक रस हो गये हैं। इस स्थिति में धारक वहाँ साहित्यकार अपने असीम दायित्व से बँध गया है, वहाँ सामान्य-जन का भी समाज रूप में साहित्यकार के प्रति दायित्व बँध गया है। साहित्यकार समाज की प्रगति की आवश्यकताओं को समझते और उनके अनुकूल भावभूमि का निर्माण करने के लिये जहाँ उत्तरदायी है, वहाँ समाज भी साहित्यकार के विक्रम एवं योगदान के प्रति कम दायित्व नहीं रखता। जो समाज अपने साहित्यकार से केवल सेवा ही जानता है देना कुछ भी नहीं जानता, वह वास्तव में अपने एक बहुत बड़े उत्तर दायित्व से पलायन कर मरकर अंधकार का भागी बनता है। ऐसी स्थिति में वह साहित्यकार को अमनुष्य छोड़कर अभी भी अपना योगदान नहीं कर सकता। साहित्यकार का यह कर्तव्य है कि वह सामाजिक नव-चेतनाओं की पूर्ण ईमानदारी के साथ अभिव्यक्ति करे। सामान्य जीवन के हर रूप को वाणी दे। परन्तु समाज का भी यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वह साहित्यकार की स्थिति को किसी भी शिष्टा से अनुरक्षित न होने दे।

साहित्यकार जन-विक्रम की दिशा में निरन्तर प्रयत्नशील रहकर जन-मंगल को नए रूपाकार देता है। वह जन-मंगल के द्वारा जन-परम को रूपायित करता है। जब तक जन-मंगल साहित्यकार का ध्येय नहीं होगा, तब तक न तो जन-विक्रम संभव है और न जन-परम की उपलब्धि ही हो सकती है। जन-विक्रम उस भौतिक समृद्धि का सूचक है, जो जन-समूह में बिखरी होती है। केवल इस स्थिति को लक्ष्य

बनाकर चलने वाला साहित्यकार अपने साहित्य का पूर्णतः निर्वाह नहीं कर सकता। उसका सबसे बड़ा और अन्तिम साहित्य यह है कि प्रत्येक जन, विकास के उस स्तर तक पहुँचे जहाँ वह अपने विकास में सवजन का विकास अनुभव करे, तभी वह जन-परम की स्थिति को पा सकता है। यह सर्वजन हिताय, सवजन सुखाय की स्थिति का साहित्य-सर्जन ही साहित्यकार का परम साध्य है। इसी स्थिति में पहुँच कर साहित्यकार की आत्मा जन-जीवन की आनन्दानुभूति एवं साहित्य-सर्जन की मधुमति का साक्षात्कार करती है और यही वह स्थिति है, जहाँ साहित्यकार का परमत्व पूर्ण व्यक्तित्व सामाजिक-जन में अपनी पूर्णाभिव्यक्ति पाता है।

स्वातंत्र्योत्तर राजस्थान की हिन्दी काव्य धारा

अपने ही समकालीन काव्य-सृजन का विवेचन या मूल्यांकन करना प्रत्यधिक जटिल एवं विवादास्पद कार्य है। बहुत अधिक त्रिणल एवं तटस्थ रहने के बावजूद भी इस बात की सम्भावना बनी ही रहती है कि ऐसा विवेचन स्वयं में सम्पूर्ण न हो सके वा इस प्रकार की विवेचना अनावश्यक आलोचना प्रत्यालोचन का विषय बन जाये। एक कठिनाई यह भी है कि राजस्थान के अधिकांश प्रमुख कवियों ने अनेक क्षितिजों का स्पष्ट किया है और उनकी काव्यधारा एक नहीं अनेक मोड़ों को पार करती हुई गतिमान रही है। जहाँ 'अनेक क्षितिज एक ही क्षितिज में समाहित हो जायें' या सब कि सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया अपने विकास के दौर से गुजर रही हो वहाँ उन तरह का विवेचन क्या महत्व रखता है यह शका भी प्रकट की जा सकती है। मेरी यह मान्यता है कि सृजन के साथ साथ यदि उस पर विचार-विमर्श भी होता रहे तो निश्चित रूप से भविष्य का पथ स्पष्ट होता है और नये नये आयामों की खोज स्वतः ही हो जाती है। मैं यह मानने को तयार नहीं हूँ कि राजस्थान के कवियों ने ऐसा क्या विशेष रचा है जिसका विवेचन किया जाय। वस्तुतः प्रात में प्रकाशन की की समुचित सुविधाएँ व अवसर उपलब्ध न होने से कई प्रतिभाशाली कृतिकारों की क्षमता के वास्तविक स्वरूप को पहचानने में हम असमर्थ हो गये हैं। केवल स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं या कभी २ चारों की स्थापनामा पत्रिकाओं में प्रकाशन वाक्य ही उन्हें समुचित हो जाना पड़ा है। जिन कवियों की कृतियाँ प्रकाशित भी हुई हैं, उन्हें इस आधारों और सींचतान के वातावरण में इतना पीछे डकेस दिया गया है कि हिन्दी के विद्वानों और रसज्ञ पाठकों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित ही नहीं हो पाया है इसी दृष्टि ने इस लेख की प्रेरणा दी है। इसे मेरी शिवशता ही समझी जाय कि अनेक कवि-बधुओं की सामग्री उपलब्ध न होने के कारण मैंने उनका उल्लेख नहीं किया है। मेरा मुख्य दृष्टिकोण मुख्यतः वर्तमान में रहे जाने वाले काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ और

कवियुग उन प्रमुख कवियों तक ही सीमित रहा है, जिन्हें एक सीमा तक प्रतिनिधि कवि कहा जा सकता है। अस्तु।

राजस्थान से राजस्थान, सम्पूर्ण देश को मार्ग-दर्शन देता रहा है। राजस्थान की यह एक विशेषता रही है कि तलवारों की धाया और युद्ध-स्पर्ध में हाने वाले मयकर नर-संहार के बीच भी, कला, साहित्य और संगीत की त्रिवेणी उन्मुक्त रूप से प्रवहमान रहा है। सूर्य के क्षणों में इस प्रदेश ने उन्वकोटि के स्यामल्य, शिन्धु संगीत, एवं साहित्य के क्षेत्र में अद्भुत चमत्कारी कला कृतियों को जन्म दिया है। पौरुष की ठूँकार और करुणा की मयस्पायिनी संवेद नशीम ऋकार की अनुपुव, एक साथ, एक ही परिस्थिति में यहाँ गूबी है। शीघ्र के प्रतीक योद्धाओं को जन्म देने के प्रतिरिक्त इस प्रदेश का क्यातित्व कवि मनीषियों को भी जन्म देने का सोमाय्य मिला है। महाकवि चँद, मल्ल शिरोमणि मीरों बार्द, स्वामिपानी कवि पृथ्वीराज, रसिक भ्रष्ट विहारोनाल नीति निपुण कविवर वृद्ध, आषायत्व के अधिकारी मतिराम, तथा शीघ्र एवं त्याग के अमर पापक कवि सूर्यमल्ल निष्प्रण की यह सीमा भूमि रहा है, घोर काल्य की त्रिविध विधाओं के सर्वोत्तम विकास की सम्भावनाएँ यहाँ प्रतिफलित हुई हैं। मल्ल-प्रदेश कही जाने वाली धरती क सरस्वती-पुत्रा ने, हिन्दी साहित्य के इस युग में, आपनी बाणी द्वारा अमृतमयी रस-सरिता बहा कर, साहित्य के क्षेत्र में चार चार्न लगाने हैं।

कवियों की इस परम्परा का निर्बाह यहाँ निरंतर होता रहा है और आधुनिक युग में भी यह परम्परा नये नये रूपों व नवीनतम आपातों के शाप्यम से, साहित्य-मण्डार की अभिवृद्धि में अपना अविचल किन्तु महत्वपूर्ण योग देने में निरंतर सक्रिय रही है। द्विदश-युग से लेकर आधुनिक युग की मर्यादुनिक काव्य-प्रवृत्ति के प्रकरण तक पहुँचने में, राजस्थान का हिन्दी काव्य निरंतर गतिमान एवं प्रबुद्ध रहा है। बदलती परिस्थितियों और बदलते जीवन-मूल्यों के साथ साथ यहाँ के कवि का स्वर भी बदलता रहा है। मैं बड़ी दृढ़ता से इस बात को कह सकता हूँ कि दोहरी गुलामी के पाठावरण में पले राजस्थान के कवि ने कभी भी अपने दायित्व व कवि कर्म को निस्मृत नहीं किया है। स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रारंभ से लेकर, बीनी-भाऊमण की परिस्थिति तक, राजस्थान के हिन्दी कवि ने कवि-कर्म के प्रति बड़ी ईमानदारी का दृष्टिकोण किया है। पण्डितता की शृङ्खलाओं में जकड़े और दाहरी गुलामी के लाहारा में उड़े, राजस्थान, के जनसाधारण को जूझते रहने,

और उनके मन में प्रश्ननीय उत्साह का संचार करने की दृष्टि में प्रांत के तत्कालीन कवियों ने अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से जुन्मी के विराय में बपावत का संस्कार किया। इसे परिस्फिति का प्रभाव ही कहा जाता चाहिये कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व जिन कवियों ने जन-जन के मन को प्रेरित किया, उनमें से अधिकतर राजनीति के सक्रिय कार्यकर्ता थे। उनके काव्य में चाहे ऊँची कलात्मकता के दर्शन न होने हों, पर यह सत्य है कि उन्होंने सामन्ती-शोषण से पीड़ित जनता को जगाया और उसे नई दृष्टि दी। स्वतन्त्रता के पूर्व राजस्थान में प्रजामण्डल के माध्यम से जिस जन-प्रादोलन का श्री गणेश हुआ, उसने जागृति का नया विहान किया। जन-कवियों ने जन साधारण के मन में ध्रुव आत्मबल तथा साहस की भावना का संचार किया। बिजयसिंह 'पथिक' जयनारायण व्यास, मागिनवलाल बर्मा, गोबुलमार्ड भट्ट केसरीसिंह पारदठ हरिभाऊ उपाध्याय, हीरालाल शास्त्री, काला बालल आदि अनेक कवि-कायकर्ताओं ने जनता को नगृह्य देने के साथ-साथ जनमन को उत्त ज्वल कर, जूमने रहने की बलवती प्रेरणा प्रदान की और मरकत जन काव्य की रचना की। आज वे रचनाएँ चाहे स्मरहीन और 'नारेबाजी ही लगें, लेकिन उनका मूर्खाने तत्कालीन परिस्फितियों और आवश्यकताओं के संदर्भ में ही किया जाना चाहिये। इन कवियों की वाणी ने तत्कालीन परिस्फितियों में ज्योति स्तम्भ का काम किया और राजस्थान के कराड़ा लोगों की पीड़ा एवं आक्रोश को मुखरित कर जुन्मी के गिहासन को अबदस्त चुनौती दी। उनके काव्य का हमी दृष्टि से महत्व धरना चाहिये।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विगत १८-१९ वर्षों में राजस्थान के हिन्दी काव्य की प्रायातीत प्रगति हुई है। सन् ४७ के उपरान्त जिन कवियों ने काव्य-क्षेत्र में बंदम रखा वस्तुतः 'उनकी अंतश्चेतना का संस्कार स्वतन्त्रता-संग्राम की प्राशा विराशा और अजन्मे अविष्य की प्रतीक्षा ने ही किया। " जब हमारी अंतश्चेतना का संस्कार हो रहा था तो उस प्रवाह में हमने ऐतिहासिक प्रसंगों को रचनाओं में अवतरित किया अन्वोक्तिपूर्ण लिखी नाटक सेले गुधार समितियों बनाई, सुद्धी भर व्यक्तियों के स्वामित्व को चुनौती दी व्यक्ति प्रतिष्ठा का स्वर उभारा, नारी के उत्कट प्रणयाराधन को शुचिता दी धर्ममेद के दुष्प्रसंगों के प्रति सामान्यजन में रोष उत्पन्न किया और वह सब कुछ लिखा जो आकाश में लिखा जा सकता था'। राजस्थान के अधिकतर कवियों को चाहे स्वाति बाद में मिली

१-"राजस्थान के कवि भाग १ (मूमिका-नन्द चतुर्वेदी)।

प्रकाशक—राज० साहित्य अकादमी।

हो, पर उनमें से अधिकतर ने काव्य सृजन का क्रम, स्वतन्त्रा संग्राम के पावन क्षणों में प्रारम्भ कर लिया था। स्व सुधीन्द्र सुकुल, नन्दचतुर्वेदी, गणपतिचन्द्र मण्डारी शलम, रामगोपाल शर्मा त्रिनेय, प्रकाश धानुर, कमलाकर, कन्हैयालाल सेठिया आदि कवियों के रचना-क्रम के पीछे जो चेतना झक रही है, उसे समझने के लिये राष्ट्रीय धान्दोलन की परिस्थितियों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। काव्य की शक्ति के साथ प्रांत के कवि का स्वर बदला अवश्य है, पर काव्य की प्रेरणा का क्षण धीरे स्त्रोत स्वतन्त्रता पूर्व की परिस्थितियों में निहित है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बहुत समय पूर्व ही यद्यपि ऐति-कालीन परम्परा की इति थी हो चुकी थी, पर इसकी धारा एक दम विलुप्त नहीं हुई। इसके अनिच्छित द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तत्मक काव्य का सृजन भी निरन्तर होता रहा। विगत दो दशकों में काव्य ने नये २ परिधान धारण किये हैं और उसका अन्तर न बाह्य, दोनों ही बदले हैं, पर प्रांत के कतिपय बयोवृद्ध एक रसविद्ध कवियों ने समय की धारा को उपेक्षा करते हुए, परम्परागत मोह को ज्यों का त्यों बनाये रखा है। इय सदर्भ में स्व गिरिधर शर्मा, नवरत्न^२, राज कवि हरनाथ, पुणेहित प्रतापनारायण, लक्ष्मि सिंह भटनागर आदि कवियों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। द्विवेदीयुग के विदास्त कवि 'नवरत्न मृत्यु-पर्याप्त, सृजन-रत रहे और इतिवृत्तात्मक परम्परा का निर्वाह करने रहे। 'भार्य जाति का उद्बोधन,' 'मानव-देह, 'एक रूपता, 'साक्ष्य आदि उनकी इसी प्रकार की कविताएँ हैं। राज-कवि हरनाथ, वृजभाषा के सराफ, समर्थ कवि हैं और प्रांत में ऐतिवृत्तीय कला-बन्धन का अंतिम शीबन्त रूप उनके काव्य में देखने को मिलता है। भाषा सौष्ठव अर्थात् विधान, रस विवेचन बक्रोक्ति नायिका-भेद एवं ऐतिवृत्तीय छन्दों

२-हम हैं जड़ हैं वन शीथिल में
हम हैं रत्न हैं कण्डु लीला सुहार्द ।
इमि धार के आपने मानस में,
मज की सुपमा ललया धनि धार्द ॥
-उदु रयामल गौर शरीर मिले,
चट्टु धाय गई इक सी हरितार्द ।
कट्टे जान पड़ी न कडू केहि को,
यदां कौन हैं राधिका कौन कर्हार्द ॥

के प्रयोग में 'राज कवि' को अद्भुत सफलता मिली है। यह आश्चर्य की ही बात है कि वर्तमान समय की विभीषिका, घोर प्रतिफल परियतिवृत्त होते स्वल्प से इनका काव्य अप्रभावित ही रहा और ये आज भी झॉल, कमर, धिबुक, स्तन, आदि की अपना प्रिय काव्य विषय बना कर, परम्परागत उपमानों व प्रतीकों का प्रयोग कर रहे हैं। वैसे इनके काव्य का कलापद्ध एवं रसात्मकता, पद्माकर, देव या बिहारी के काव्य से ही है।

वर्तमान काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्तियों की चर्चा करने के पूर्व प्रांत के स्वनामधन्य कवि स्व सुधीन्द्र के सम्बन्ध में कुछ कहना उचित प्रतीत होता है। सुधीन्द्र, वर्तमान पीढ़ी के नेता एवं अगुमा थे। उन्होंने राजस्थान की काव्य प्रतिभा को सव-प्रथम द्रखिल भारतीय काव्य-रत्न पर लेजाकर आसीन कर लिया। यदि 'सुधीन्द्र' ने अपने ललित कठ और सरल गीत 'सैनानी' द्वारा राजस्थान की काव्यात्मा को प्रादेशिक सीमाओं के पार तक पहुँचाया, तो सुधीन्द्र ने उसे उच्च कोटि का काव्य-रत्न प्रदान किया। राजस्थान के दो कवि ऐसे हैं जिनका राजस्थान के काव्य जगत में विरिष्ट स्थल है। सुधीन्द्र की कविता में छायावादी प्रभुत्व राष्ट्रीय चेतना, प्रगतिवाद का सुनियोजित स्वर और आशा-निराशा के अनेक प्रकार के गहरे रंग उभरे हैं। उनके काव्य में जागृति का स्वर, स्वर्ण विहान की आकांक्षा और विषमताओं के प्रति तीव्र आक्रोश प्रकट हुआ है। अपने समय की सभी प्रमुख काव्य-धाराओं को सुधीन्द्र ने आत्मसात् किया और दर्द की गहराइयों तक उतर कर उसे म जानने कितने श्रय दिये। शौर्य प्रेम एवं रहस्य की दिशाओं में उनका लेखन कार्य गतिशील था। गाँधी-युग में अन्य लेकर, संक्रान्तिकाल में अपनी प्रतिभा का विकास कर, सौन्दर्य की भाव-भूमि पर काव्य सृजन कर उन्होंने अपनी यश कीर्ति को अच्युत बना लिया है। एक दार्शनिक से जिज्ञासा, प्रेम विरह की व्याकुलता, और जीवन के प्रति तीव्र-आस्था का स्वर उनके काव्य में मुखरित हुआ है। एक और वे रूप, रंग रस, गंध के आराधक के रूप में हमारे सामने आते हैं, दूसरी ओर जीवन का कठोर सत्य उन्हें अपने पाँव धरती पर टिकाये रखने के लिए विवश भी करता है।

१—कल्पना के पंख पर बैठा हुआ मैं, पाष में जंजीर है संसार की।

वासुरी कैसे बजाऊँ मैं प्रणय की, जब प्रलय का सुन रहा हूँकार मैं।

आज जाने दो कि जन रुकट बुलाता, लौट कर जीता, फरूँगा, बात तुमसे प्यारकी

राजस्थान का हिन्दी काव्य, उन्हीं परम्पराओं और प्रयुक्त राज भाषों से होकर आगे बढ़ा है जिन पर हिन्दी की कविता कभी रुकती, कभी मचलती, कभी ठिठकती और कभी द्रुतगति से दौड़ती हुई चली है। प्रकृतियों की दृष्टि से सामान्य हिन्दी काव्य की पृष्ठभूमि से राजस्थान की हिन्दी कविता को अलग करके देखना, उचित भी नही होगा। उन्हीं परिस्थितियों और परम्पराओं का विवरण व विवेचन राजस्थान के हिन्दी कवि ने किया है, जो विशाल स्तर पर हिन्दी काव्य को मूर्त रूप दे रही थी। राष्ट्रीय काव्यधारा, छायावादी काव्यधारा प्रगतिवादी काव्यधारा और प्रयोगवादी काव्यधारा के जो विविध रूप और मायाम हमें हिन्दी साहित्य में देखने को मिलने हैं, राजस्थान का हिन्दी काव्य उनमें प्रथममूर्त या अग्रभाविता कस रह सकता था? वस्तुतः राजस्थान का हिन्दी काव्य अपनी सम्पूर्ण चेतना और अभिव्यक्ति के लिए साहित्य की उन विभिन्न धाराओं का श्रेणी है जो परिस्थितियों के प्रभाव से सामान्य हिन्दी काव्य को गूँथ रही थीं। अतः हम इस विवरण के लिए उन्हीं प्रकृतियों को आधार बनायेंगे जिन्हें हिन्दी साहित्य में सर्वमान्य स्वीकृति मिल चुकी है।

राष्ट्रीय काव्यधारा —

भौतिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता का समन्वित रूप ही 'राष्ट्र' कहलाता है। इन तीनों इकाइयों के संश्लेष और विस्तार के साथ साथ राष्ट्र और राष्ट्रीयता का स्वरूप भी संकुचन और विस्तृत होता रहा है। आधुनिकयुग में राष्ट्रीयता का स्वरूप पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक हुआ है। प्रथम स्वाधीनता संग्राम की असफलता ने इस भावना को गहराई तक पहुँचाया। भारतोद्धार, दिव्यी व बापू के युगों में भी राष्ट्रीय काव्य का निरंतर मृत्त होता रहा है। जातीय गौरव की भावना, प्रतीक का गौरव-मान दर्श-श्रेय की भावना, बलिदान की यह उन्माद, क्रांति का आह्वान, निर्माण का स्वर, आदि विभिन्न-विभिन्न रूपों में राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः राष्ट्रीयता के मायाम बहुत विस्तृत हैं अतः विविध संदर्भों और घटकों में कवियों ने इसे अभिव्यक्ति दी है। किसी एक युग विशेष तक या किसी निश्चित सीमा में बंध कर न चलने से राष्ट्रीयता के समय पर विभिन्न रूप बदन हैं और हर स्थिति में अपने जन-मानस की भावनाओं का प्रतिनिधित्व कर अपने अस्तित्व को बनाए रखता है। स्वतंत्रता

प्राप्ति के पूर्व मूल लक्ष्य था विश्विया की सत्ता से मुक्ति पाना^१, जिसमें भाद्रोय अधिक धोर फला कम थी^२। स्वतंत्रता संग्राम के क्षणों में कवि ने बार बार प्रतीक के गौरव का स्मरण किया कर, जूमते रहने की बलवती प्रेरणा दी। प्रताप, हन्दीपाटी, पद्मिनी भास्त्रि का बार बार पुण्य-स्मरण किया गया और भारत की शस्य-श्यामला वसुधरा से प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन कर, उसे मुत्तों से मुक्त कराने का आग्रह किया गया।

(प्र) उठ उठ धी मरे धनीय,
अभिनन्नीय भारत महान।

जुमे उठ राक्षसान प्राज्ञ
हन्दीपाटी का लिये दाप।

पद्मिनी भागना का जोहर

बाप्पा, प्रताप का से प्रताप ॥ (मुचीद्र)

या मरे धो जलियाँ वाला बाग छेद कुछ ऐम निरस्त राग।

बल पड़ें साथ हुए शहीद, चित्त म से प्राणों का स्पर्श ॥

(प्रलय बीणा-मुचीद्र)

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश के आन्दोलन की दृष्टि पीड़ा से कवि का मन चीत्कार कर उठा^३। स्वतंत्रता मिली किन्तु उसका क्लिप्तता बड़ा मूय चुकाना पडा ? यही नहीं स्वतंत्रता के पक्षधर ही जब शंकास्पद व्यवहार करें तो कवि चुप कैसे रहे ?

१-हमें बदलनी आज साधियो

सड़ी गली सरकार पुरानी।

या

यह लँगडी सरकार है

इस को ठोकर मार दो ॥ —(प्रकाश आतुर)

★ ★ ★

२-दृष्टव्य-मुचीद्र की भारत शीर्षक कविता

★ ★ ★

३-बहुत मँहने मोल टूटी शृ खलायें,

काट ली मेरी गई दौनों मुजाएँ।

(रफ्त दीप-गणपतिचन्द्र भण्डारी)

देख स्वतन्त्र हुआ तो कवि का भावुक मन रागमय, त्यागमय, भावमय भारत की धरती नये तिरों से करने लगा। समुद्र उसके चरखों को पसारता है, पुष्प गन्ध चलाते हैं समीर विज्वन डुलाता है चादनी जिसका हृत्प है—ऐसा है कवि के सपनों का देश जिसकी वह धन्दना कर उस पर स्वर्ग की सुगन्ध कल्पना तक को न्योछावर कर देता है^१। स्वतंत्र देश का आधार बना घम-निरपेक्ष समाज, जिसमें साम्प्रदायिक एकता होना, मूलमूल सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया गया। मानव मानव में भ्रम न हा तभी ता रामराज्य प्रायेण। मन्दिर और मस्जिद का घमण र ध्यक्तित्व भी रहे पर सौमनस्यता बनी रहे यही तो जनतंत्र की सफलता है। इसी की माँग कवि ने की है—

मन्दिर में घंटा बजे, धीरे मस्जिद में खड़े नमाज ।

जनतंत्र को छाया में ऐसा हो घटना रामराज ॥ (सुधीन्द्र)

स्वतंत्रता का वरदान हमे जनतंत्र के रूप में मिला। जनतंत्र अर्थात् जनता का राज जिसमें जनता ही सर्वोपरि। उसी जनता का यथोपान करत हुए, जो स्वतंत्र भारत की आत्मा है कवि ने उसे 'भाग्यमाता' का ही पर्याय मान लिया है। उसे अन्नपूर्णा, सुवन-विजय श्री, सृष्टि की पुण्य पांडुलिपि, शतरूपा, धीर-प्रसहिनी प्रादि विशेषणों से विभूषित किया है। उसका रूप ऐसा कि प्राणों को निभार दे। एकाधिक्य मित्र तो जैसे भरणी उबला गई हो^२।

१—जम भूमि धन्दना मलु भूमि धन्दना, पितृ भूमि धन्दना।

राग भूमि, त्याग भूमि, भाग्य भूमि, धन्दना।

है समुद्र धो रहा मदैष पाव धूमता।

पूल है चढ़ा सुगन्ध, पा समीर भूमता।

चादनी हंसी सिली, वायु प्राण सी मिली।

है तुम्हे सिहार, स्वर्ग की समस्त कल्पना। (सुधीन्द्र)

★ ★ ★ ★

२—जय जनता, जय अमर भारत, जय शौरव गाथा।

अन्नपूर्णा, सुवन विजय-श्री, जय भारत माता।

इतिहासों की सृष्टि, सृष्टि की पुण्य पांडुलिपि माँ।

शतरूपा, मानव-महत्तारी, जग-भूजित, प्रतिमा।

प्रतियोगिता, सभ्यता, सबला, शत्रु समष्टि सद्गया।

धीर प्रसहिनी, सर्व-वर्ण-अधिके, विषद्-विजया ॥

नये भारत की भ्रमजोवी जनता को ही कवि ने 'भारत माता' का प्रतीक मान कर, उसकी यन्दना की है। जनता की विजय-सुर्यद्वारा वर्ग की विजय है जिसके समक्ष शोषण व भ्रवसरवादिता घुटने टेक रही है। बिजली व विज्ञान जिसकी शक्ति हैं, जो भारत की मेरू-शक्ति है। उसकी विजय जनता की विजय है भारत की विजय है^३। स्वतन्त्रता के नये सूर्योदय ने भ्रम की भावना को प्ररित किया और कवि का आग्रह भ्रम की शक्ति के प्रति देने लगा। कनुवित मनोवृत्तियों को त्याग कर, नई सरगम के स्वर को पहचान कर, स्वेच्छाओं की महिमा का जानने का वह आग्रह करने लगा। धरती के शृंगार के लिये, गुजबल, और हल व कुदासी की शक्ति का मूल्यांकन करने के लिये पुकारने लगा^४। मिट्टी की महिमा उसके रोम रोम में रच ग^५ और वह देश की धरती के स्वरूप को निलारने के लिये तथा उसके कण कण को पावन करने का आग्रह अपनी प्रियतमा में करने लगा। देश की मिट्टी की पावनता के प्रति उसके मोह का कारण है—

इस मिट्टी में मेरे युग का पावन अपना,
इस मिट्टी में सोई ह वेदाश बहारें ।
इस मिट्टी में सृजन-शक्ति का घादि स्त्रोत है,
इस मिट्टी में मेरे मन की फर्याण पृथारें ।

इस मिट्टी की पावनता को व्यापक कर दो, मैं समझ गा तुमने जीवन-ज्योति जलाई ।
इस धरती के कण कण से तुम पावन कर ले मैं समझ गा, तुमने मेरी प्रीति निभाई ।
(मिट्टी की पूजा-आतुर)

प्राण यहाँ पर निखर कर धरती पर उतरे ।
पवन मिली साँमें गुन गुन कर फसला पर उतरे ।
सत्ताएँ सत्र बढ़ती जन की, परिभाषाएँ बढ़ती ।
स्वाग मिटा, एकाधिपत्य का धरा हुई बजली ।

(उमंग-मुकुल)

★ ★ ★

३—देखिये— उमंग म मुकुल की कविता 'भारत धन्दना' ।

★ ★ ★ ★

४—दृष्टव्य-प्रकाश 'आतुर' की कविता "नये देश की धरती का शृंगार करो" ('राजस्थान विकास' में प्रकाशित)

देश की मिट्टी की सुगंध में भावुक-कवि का मन रम गया है। कवि को इस बात का प्रबल विश्वास है कि धम की यह वृद्ध, प्राबदार मोती बनेगी और व्यस्त-हस्त, रुढ़ि के जर्जरित कुहासे को नष्ट कर, नये प्रमात में देश का श्रृंगार करेगी। जो जर्जरित हैं उनके माये प्रीत का कुकुम लागेगा और नय शिल्प की मूर्ति, गगन-शुबी शिखर पर चढ़ कर रहेगी। देश का काया-कल्प होकर रहेगा। आज तो वह स्वेद-कणों से श्रृंगारित धम की देवी को अपने गीतों की प्रजलि समर्पित कर रहा है।

हे स्वेदकना से श्रृंगारित धम की देवी
मेरे गीतों की प्रजलि, तुम्हें समर्पित हूँ।
फणड़ा बुनती, बुनकर की घँगुलियाँ तुमको,
मेरी वाणी की सब रगिनियाँ भ्रमित हूँ।

('सप्तकिरण' का एक गीत—कमलाकर वृत्त)

कवि शपथ लिताता है कि साहसी बनो उरवाह बँटोरो, और मेरी मशालों के उमाले में बढ़ते रहो, बढ़ते रहो। देश का शत्रु चाहे कितना ही शक्तिशाली क्या न हो, उसने हार न मानने का पाप है कवि का है क्योंकि उसे विश्वास है कि उसकी जलाई मशाल के उमाले में कोई छो नहीं सकता घँघेरा रह नहीं सकता। इसीलिये वह उद्वोधन के स्वर में आवाज दकर कर्म से कर्म मिला कर चलने को बनवतो प्रेरणा देता है^२। देश की सोमार्ग पर हुए पाकमण ने, कवि की राष्ट्रीय भावना को नये संभ्रम में प्रेरित किया है और राजस्थान के प्रत्येक हिन्दी

१—दृष्टव्य — बादल और वायु की एक गीत (शालम)

★ ★ ★

२—शाहीदों के रूधिर से जो खिले हैं फूल उपवन में।
तुम्हें सीगंध है इनकी न हिम्मत हारना मन में।
गिरान दो इन्हें गोले चलान दो इन्हें तोपें।
अंधेरा रह नहीं सकता, मशालें में जलाता हूँ।
नई आवाज देता हूँ, नई मजिल बनाता हूँ,
कदम अपने मिलाओ तुम।

('जलती रहे मशाल का एक गीत—डॉ० दिनेश)

कवि ने इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। हम प्रसंग में रचित साहित्य कला विपुल है कि उगकी स्वतंत्र ममीजा अनन्त है। यहा इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सस्कृत के इन जगो म राजस्थान के कवि को न चाहत हुए भी शक्ति की बांगुरी के स्वर को युद्ध के दक्षिणा के रूप में बदलना पडा है। राजस्थान के समकालीन अभिजीवी साहित्यकार के मन में आक्रमणकारी के प्रति रोष है और जन-चेतना को प्रबुद्ध करने के लिये वह कृत-सकल्प है। वह चुनौती का सामना करने के लिये लेखनी के शस्त्र को सम्हाल चुका है, और उसकी दाणी में उस्ताह का स्वर है, आस्था का संकल्प है और है आत्म-रक्षा की भावना।

हाँ त्रिनेश लिखते हैं —

हम हर घाटी हर पर्वत पर घांरा ।

हम बीरा के तन में बहता राग-धारा ।

हम इतिहास बनाने वाले गीता लिखने वाले हैं ।

इमर उठना आंस न दुश्मन ! हम इसके रखवाले हैं ॥ (त्रिनेशिया में)

उसने तत्त्वधी काव्य में पौरुष का स्वर जागृति का संदेश और कसब्य निर्वाह के प्रति तीव्र आग्रहपूर्ण अनुरोध भी है। कवि ने आक्रांता के छल को बाल इतिहास और सृजन के प्रति विश्वासघाती कह कर आदिमा की चुनौती का जयघोष किया है। इसानियत पर हुए हम सर्वरतापूर्ण आक्रमण के क्षणों में भी यह सत्य की आस्था के सुमन को न मरने देने के लिये कृत-सकल्प है^१। राष्ट्रीयता एव सुरक्षा की भावना को प्रबुद्ध रखने तथा सुरक्षा के निमित्त जन-संप्रहीत करने की

१-इस प्रसंग में लेखनी के शस्त्र शीपक से इस लेख के लेखक य राकेश के सम्पादन में प्राप्त के हिन्दी राजस्थानी एव उर्दू के कवियों का मकलन, राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित किया गया है।

२-यह तुम्हारा काल से, इतिहास से छल है
शांति पाने को तरमती प्यास से छल है ।

फँक कर अंगार फूलों पर, लताओं पर
शक्ति कहते हो जिसे, मधु-भास से छल है ।

सत्य को हम अंत तक हरने नहीं देंगे
आस्था के सुमन को मरने नहीं देंगे ।

चीन, तुमको यह अहिंसा की चुनौती है,
हम मरें इसानियत मरने नहीं देंगे । (वीर सक्सेना)

दृष्टि से प्रायः क भारत नवमुक्त कवियों ने (सोरभ भारती, वृजमोहन, तारादत्त, गोविन्द) सारे देश का धमण कर, काव्य-गाठ के माध्यम से १ साल २० हजार रुपया एकत्रित कर के दिया है। यह दायित्व-निर्वाह की धमूतपूर्व घटना है, जिसे राष्ट्रीयता का जिक्र करन समय, राजस्थान कमी नहीं मुझा सकता। राष्ट्रीयता का क्या उन कविताओं में देखने को मिलता है, जिन में देश में व्याप्त-जघनाचार को समाप्त कर, देश की भात्मा को निर्मल बनाने का आग्रह किया गया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के क्षण जो स्वयं सँझोये गये, उनकी आघातन पूति नहीं हो पाई है। दो दसकों का समय व्यतीत होने पर भी गरीबी भूखमरी और भ्रष्टाचार का क्षेत्र बन्ता ही जा रहा है। देशादोही लोग फल-फूल रहे हैं और सृजन-रत, उतना ही दयनीय बना हुआ है, जितना कि वह पहले था। इस स्थिति की भी कवि ने अवहलना नहीं की है अपितु सशक्त स्वरो में इस प्रकार के अयोग्यताय तत्वों का मुसौटे उतार फकने और गैर-ने निमल रूप की कामना की है। शायण का व्यापार देश के स्वरूप को विकृत एवं अस्वाभाविक बनाय जा रहा है। भला कवि इस प्रकार की अराष्ट्रीय हरकतों को कैसे सहन कर सकता है? वह तो अपने दायित्व से परिचित है और असामर्थिकता के समक्ष प्रतिरोध के लिये कटिबद्ध तय्यार लड़ा है।

इस प्रकार राजस्थान की स्वाभिम्योत्तर हिन्दी काव्यधारा, राष्ट्रीयता के धनेक धायामा एवं सन्धो का स्पर्श कर विकसित हुई है। मारतेन्दु या द्विवेदीमुणीन राष्ट्रीयता का जो रूप बालती परीक्षितियों में समग्र, प्रायः के कवि ने उसे और और से प्रतिध्वनित किया है। भारत बदना, अम-बदना, जनता-बदना, स्वतंत्रता की रक्षा व भाक्ताता का पुनीती, साम्प्रदायिक-सौमनस्य, सामाजिक सुधार, जघनाचार का विरोध एवं शहीदो को श्रद्धांजलि आदि विविध-विधय है ना राजस्थान की मुणीन राष्ट्रीय-चेतना के विविध-रूपा में, कवि की बाणी द्वारा मुसरित-रूप है।

छायावादी काव्यधारा—

। यद्यपि हिन्दी काव्य में सन् १९३६ के आसपास, छायावादी काव्य की प्रधानता समाप्त प्रायः ही हो गई थी, किन्तु इस काव्यधारा का प्रभाव आज तक

१—इस संदर्भ में गणपतिचन्द्र/भरद्वारी की 'रक्त दीप में संकलित, 'माता की पुकार' तथा नन्दचतुर्वेदी का प्रकाशित गीत 'बँद लुटेरे' दृष्टव्य है।

दखने को मिलता है। राजस्थान के दिन हिन्दी कवियों ने राष्ट्रीयता-मरण साक्षिय रचा, भयवा कालान्तर में प्रगतिवाद या प्रयोगवाद के स्वर में स्वर मिलाया, वे ही कवि छायावादी अभिव्यक्ति के माध्यम को भी स्वीकार कर चले हैं। पंत, प्रसाद और निराला आदि कवियों का प्रभाव बड़े व्यापक पैमाने पर यहाँ की काव्य-चेतना पर पड़ा है। छायावाद की कल्पना, प्रतीकारमयता शृंगारमय प्रकृति प्रतिशय भावुकता और एकांतप्रिय तथा अन्तमुक्तता आदि की मूलमति सूक्ष्म प्रतिव्यक्ति कवियों ने प्रस्तुत की। प्रणय निवेदन के सदर्भ में यह दृष्ट्य है कि यहाँ के कवि ने प्रकृति और आध्यात्म की मूलम भाव-भूमि पर समन्वय करके अज्ञात के प्रति प्रणय निवेदन भी किया है तथा स्थूल मांसलता और लौकिकता को भी दृष्टि-पथ पर घाने दिया है। छायावाद के प्रमुख प्रतिनिधि-कवियों से सांकेतिकता भी इन कवियों में आई है और लौकिकता के नेत्रवेध पर व्यक्तिवादी प्रणय-निवेदन के स्वर भी बढ़ी तीव्रता के साथ उमरे हैं। गीति दौली के माध्यम से बिरह की व्यापक और प्रकृति के व्याकुल चरणों की अभिव्यक्ति प्रस्तुत करने में इन कवियों को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। अनुभूति की तीव्रता अभिव्यक्ति की सरासरी तथा भावनाओं की गहराई के माय साम सक्षिप्तता तथा भाषा का परिमार्जित रूप भी इन कवियों की कृतियों में देखने को मिलता है^१। प्रकृति का सचेतन शक्ति के रूप में स्वीकृति देने के प्रतिरिक्त, राजस्थान के कवियों ने प्रकृति के अलंकृत-चित्र भी प्रस्तुत किये हैं और प्रकृति को अपने हर्ष किया^२ की अभिव्यक्ति का माध्यम भी बनाया है^३। छायावाद के प्रमुख कवियों में वैयक्तिकता के साथ २ सामाजिक-चेतना भी रही है किन्तु राजस्थान के हिन्दी कवियों में सामान्य रूप से गहरी एकान्तिकता ही देखने को मिलती है। मानसिक अवधारण पलायन की भाषना एवं रहस्यात्मक ढंग से जीवन-प्रथियों का उल्लेखपूर्ण चित्रण इन कवियों ने किया है पर वह आरोपित अधिक प्रतीत होगा है एकाधिक कम।

१—दृष्ट्य-ज्ञान भारिल्ल कृत 'आकरा कुसुम' ३० दिनेश कृत मधु रजनी एष कन्हैयालाल सेठिया कृत 'प्रतिदिम्ब एवं दीप किरण' के गीत।



२—'आकरा-कुसुम' में संकलित ज्ञान भारिल्ल का गीत 'वहुत प्यार है।

विस अज्ञात के प्रति जिज्ञासा प्रकृत की गई है वह कोई मासलता की पुतली ही है, कहीं कहीं यह बात समझने में देर नहीं लगती और "वह जिज्ञासा का भाव कौतूहल उत्पन्न करने के बजाय, स्वयं ही स्पष्टिकरण प्रस्तुत करने लगता है"। प्रवृत्ति को जीवंत, सचेतन रूप में दर्शने के प्रयत्न कवि ज्ञान भारिल्ल ने अधिक किये हैं। 'आकाश-कुसुम' में यह प्रवृत्ति अधिकारा गीतों में देखने को मिलती है राजस्थान की मरुस्थल की प्रकृति और उसका सौंदर्य, कतिपय विशेषताएँ लिए हुए हैं। बालू के टीलों का निर्जनहास, उन पर छिन्की हुई चाँदनी की शोभा आदि का वर्णन राजस्थान के हिन्दी काव्य की अपनी ही विशेषता है। बालू रेत के अप्रतिम सौंदर्य और मरुस्थल के रूप-वभव का शुद्धप्रकृति-चित्रण की दृष्टि से चित्रण, बड़े विस्तार के साथ किया गया है^१। परमेश्वर 'द्विरेफ' कृत 'धूल के फूल' के गीतों में पत ब महारथी का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है। शब्द-शिल्प एवं अभिव्यक्ति-माधुर्य की दृष्टि से अधिकारा रचनाएँ सरासरी तो हैं किन्तु कहीं २ अनुकरण की सीमा का अतिक्रमण हो गया है और कवि कोमलकांत पदावली के व्यामोह में कंम कर अपनी मौलिकता को बँटा है^३। वैसे मरुस्थली में ज्योत्सना प्रभाव, संध्या आदि के भ्रम चित्र प्रस्तुत करने में कवि द्विरेफ को अच्छी सफलता मिली है।

वैयक्तिक सुख दुःख एवं आशा-निराशा का स्वर ज्ञान भारिल्ल, के गीतों में सर्वाधिक रूप से उभरा है। रोमेन्टिक कवियों की ही भाँति कवि ने प्रणय, निवेदन प्रस्तुत किया है और मानसिक हर्ष विषाद के क्षणों को अभिव्यक्ति में है।

१— आकाश कुसुम का गीत 'प्रतिदान

★ ★ ★ ★

—दृष्टव्य—परमेश्वर द्विरेफ कृत 'धूल के फूल' की कविताएँ।

२—मरुस्थली-प्रकृति चित्रण में यह काव्य समझ बेजेड-है।

★ ★ ★ ★

३—दृष्टव्य—परमेश्वर द्विरेफ कृत 'धूल के फूल' की कविताएँ।

विशेष रूप से पहला गीत जो पंथ के 'गुंजन के 'संध्या-तारा' से प्रभावित है। इसी सद्म में नेमनारायण जोशी का 'एकाकी भी दृष्टव्य' है, जिस पर पंथ की 'नीला-विहार' का प्रभाव लक्षित है।

वे वस्तुतः "स्थापित नामना के कवि हैं और उनकी चाह, प्रकृति के सीमांतों से टकरा कर घनाहत लौट घाती है"। कवि का मन व्यक्तिगत असफलताओं पर चीत्कार कर उठता है और मूढ़म प्रतीका के माध्यम से मन के हाहाकार को अभिव्यक्ति देने लगता है। रूप, रंग और रस के सरस एवं रंगीन चित्रा के माध्यम से संयतित पीड़ा को उभार कर प्रस्तुत किया गया है। कवि को कृति में अभिरास के और मुक्ति में आप के दर्शन होने लगने हैं। उसको पीड़ा उम चण और भी बढ जाती है, जब कि चीत्कार करने की विवयता होन पर भी उसका बँठ रुध जाता है और वह कुछ कर नहीं पाता^२। लेकिन यह सब इतना अधिक व्यक्तिगत है कि उसमें अति की एकांतिकता है और एक का दर्द सब का दर्द मही बन पाया है। पत निराला को व्यक्तिकता, सामाजिकता से असम्पृक्त नहीं है किन्तु इन बन्धु कवियों ने घोर मन्तमुखी बन कर स्वयं को 'स्व की छोटी सी परिधि में ही बाँध लिया है।

इस धारा के कतिपय कविया ने आध्यात्म एवं दार्शनिक भाव-भूमि को आधार बना कर, रहस्यवादी मन्त्र स भी अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त किया है। उस मन्त्र के प्रति जिज्ञासा का स्वर उस मसीम अपार निराकार मलय घनादि के रहस्य को जानने का मोलुबध, कवि के मन में बराबर बना रहा है^३। प्रियतम कब चुपके से प्राणों में चले आए और कब सुधि के चंचल घणा को मपलक नमनों में भक्ति करके चले गये इसका पता ही नहीं चना^४। इस प्रकार की अभिव्यक्ति पर पत और महादेवी के गीतों का पर्याप्त प्रभाव पडा है। दार्शनिक जिज्ञासा का सर्वाधिक निखर हुआ सशक्त रूप कन्हैयालाल सेठिया के लघु गीतों में देखने को मिलता है। सावदेशिक और सावकालिक सर्यों के सुरन्दे

१—दिया जिन्दगी भर निमग्न तुम्हें पर,

कभी तुम न आये गगन से उतर कर। (ज्ञान भारिल्ल)

२—'घड़कों के बोल' का एक गीत प्र० ५४ (डॉ० हरीश)

३—मधुरजनी (डा० दिनेश) का प्रार्थना-गीत।

तथा नेमनारायण जोशी की कविता 'जीवन का सत्य।

४—'मधुरजनी' का एक गीत। (राज० साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित)

इन गीतों में प्रणय की पवित्रता व सकुमार शब्द योजना दृष्टव्य है।

बापाएँ चित्त खंडा को अपनी दर्शन भाषाएँ जिन शैली की छेनी से छील छील कर सौन्दर्य की अगुठी प्रतिमाओं का रूप दे दिया है। वस्तुतः सेठिया ने भारतीय दर्शन के इन्द्र धनुषी रंगों से, काव्य की मंगल-काया को सुमजिठ किया है। 'दर्प न कर कहता है तर्पण, या 'यह दर्पण यह भाषण जिसमें दकते रूप सुमाकिर' इसी प्रकार के सरल गीत हैं। 'दीपकिरण' के गीतों में कवि ने बाह्य-सौंदर्य से अमरुत न होकर, उसके मूल स्थित तथ्य को देखने का प्रयत्न किया है।

पूल विहँसना, रूल मोन है।

एक बाल के दोना साथो।

दोनी को ही हवा भुलानी।

पूल भरेया, रूल रहेया, सत्य कौन है, मूल कौन है ? (दीपकिरण)

अथवा

नीपक रहता ली बुझ जाती।

दीपक बड़ है, ली है चेतन,

किन्तु चेतना कितनी दुबल।

एक फूट का नन्हा कम्पन,

निराकार कर देगा उसको।

पर जड़ता सत्ता बतलाती ॥ (दीप-किरण)

बन्धुन सेठिया के गीत रहस्य सौंदर्य, तीव्र अनुभूति और दार्शनिक जिज्ञासा से प्रेरित हैं। इमानी कवि की भाँति उन्होंने अभिव्यक्ति को साबगी देने निचे कई स्थलों पर प्रकृति क प्रतीक चुने हैं जो जीवन की क्षण अंगुरता को जितनी सहजता से प्रकट करते हैं, मन की उतनी ही पहचान से प्रभावित भी करते हैं^२।
प्रगतिवादी काव्यधारा —

ध्यावावादी युग के अन्तिम चरण में पलायन, एकांतिकता तथा व्यक्तिगत एवं प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के विरोध में गुण की आश्चर्यकरताओं और भ्रष्टन भरे

१—प्रतिबिम्ब की भूमिका

२—बुझ जाते आँसार, राखमें दाह बनी रहती है।

बिगत स्वयं ही वर्तमान में, लुक-छिप के चलता है।

फल था जो बिरबास आज भी संशय बन पलता है।

भर जाता है प्यार, कँठ में आह बनी रहती है।

(कन्हैयालाल सेठिया)

वातावरण में विकसित मानव-मन की आज्ञावापों को प्रतिबन्धित देने का प्रबल माघ-क्षण, प्रारम्भ हो चुका था ! युग की चलती परिस्थितियों का प्रभाव प्रगतिवादी काव्य की चेतना को बहुत दूर तक प्रभावित करने में समर्थ रहा है। प्रायिक संघर्ष, राजनीतिक संकट समाजवादी प्रभाव, भारत छोड़ो आन्दोलन सहायकों की अधिकारों की मांग, बंगाल का प्रथम प्रांतीय विद्रोह परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में, प्रगतिवादी काव्यधारा का विकास सम्भव हो सका है। छायावादी अतिशय कल्पना-प्रियता तथा रुमानियत और सूक्ष्म यावरी प्रतिबन्धित क विरोध में जो स्वर काव्य में प्रतिबन्धित हुआ उमने सामाजिकता आराधना और स्वयंप्रेम की दिशाओं का संकेत किया। भारतीय गाँधीवादी और परिवर्तन के मार्गदर्शक ने बुद्धिजीवियों को नई दिशा में सावने के लिये विवश किया और हिन्दी के कवि ने भारतीय परम्परा की पृष्ठ भूमि में युग-जीवन की समस्याओं और सत्यों को उद्घाटित करने के लिये सामाजिक चेतन्य के स्वर को बड़े जोर के साथ सुनना किया। सामाजिक वैषम्य, प्रभावस्थित समाज व्यवस्था और व्याप्त अज्ञानता व निराशा की भावना ने राजस्थान के कवि-मन को उत्तेजित किया और यथार्थ का विवेक कर परिस्थितियों के प्रति चेतना जागृत करने के साथ पौख्य स्वर में, कुनौती के गीत गाने लगा। पुरातन के प्रति उसकी उल्लासिता बहमगा गई और वह परिवर्तन तथा इस्लाम की आवाज को सुनने लगा। नये के प्रति गहरी प्रस्था का स्वर और विगत के प्रति पूर्व ज्ञानि का भाव शोषक एवं शोषण के प्रति आक्रोश और आक्रोश में सर्वहारा वर्ग की विजय का संकेत प्राण्डि इन कवियों की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। मानवता की प्रथम शक्ति की सर्वोपरिता

१-कुछ भूपति भूके स्वामी हैं,
जिनके खेतों का रात-दिखास
सिंचने कर जम की-सृन्दों से,
मर जाते दीन-कृषक वेदस,

भारत के कोने कोने को
जो अन्न राशि से भरते हैं
वे शस्य श्यामला मरते हैं
कृषक-भूख से मरते हैं
(नेमनारा)

गणपतिचन्द्र मल्लिकार्जुन, नन्दचतुर्वेदी,
गणपतिचन्द्र मल्लिकार्जुन, चन्द्रदेव,

का विरोध, धार्मिक कठमुल्लेपन पर तीव्र प्रहार, इकलाव के प्रति आग्रह, यथार्थवादी दृष्टिकोण, समसामयिक समस्याओं के प्रति जागरूकता, साम्यवाद के प्रति आस्था तथा शोषक के विध्वंस के स्वर आदि की सरासरी प्रति जागरूकता, साम्यवाद के प्रति आस्था काव्य में हुई है। सामन्ती व्यवस्था का नग्न-चित्रण और उसके प्रति तीव्र आक्रोश की भावना का ममस्पर्शी तथा भोजपूर्व चित्रण किया गया है। इन कवियों की रचनाओं में सामाजिक दायित्व की भावना बड़ी स्पष्टता से मुखर हुई है। 'सोनापवा' के भय से मुक्त होकर कवि ने सामाजिक और राजनीतिक भ्रष्टाचार व शोषण का उपद्रव से विरोध किया है। 'रक्त दीप' शीघ्र कविता में गणपतिचन्द्र भण्डारी ने शोषित की दयनीयता और शोषक की अमानवीय मनोवृत्ति को सशक्त रूप में इतिवृत्तात्मक ढंग से प्रस्तुत कर दोनों के बीच का अन्तर्-Contrast प्रस्तुत किया है। मजदूरों को देख कर उसका मातृक मन पुकार उठता है—

किस शाहजहाँ हतभाग की
मुम्ताज बिलखती जाती है ?
और कवि धर्म में उद्बोधन के स्वर में कहने लगता है—

मजदूर तुम्ही जादूगर हा
मिट्टी में महल बना लेने
हो तुम्हा शक्ति की महा बाढ़
महर्षा की जडे हिंसा देने।

तुम महा मृज्ज तुम महा-प्रलय क्षण बल का पहचान उगो।
पशुना में मोहा लेने फिर फीलाफी सीना तान उगो।
तुम उठो बहो घायी बन कर जग पर मुखा नगा-छाओ।
मानव के लाहू से ज्वलत बाले, ये दीप तुम्हा जाओ।

(रक्त दीप, पृ ३०)

नये सेवे के कवियों को 'मिट्टी' ने अपनी ओर विशेष रूप से आकर्षित किया है। घट्टी की कश्चि पूजना की कवि प्रवहेलना नहीं कर रचना है और शोषण से मुक्ति के निय घट्टी की सावभौमिकता और पवित्रता का गुण-गान १—'रक्त-दीप (गणपति चन्द्र भण्डारी कृत) में संकलित श्रीवाली मिट्टी के पुतले काटों का राज आदि कविताएँ।

कर उसे निर्मल एवं भव रहित बनाने की माँग को बुलंद करने लगा है^१। राष्ट्रीयता का नवीन रूप देश की धरती का गुणगान करने का रूप में इन प्रगतिवादी कवियों में दखन की मिलता है। कवि का प्रेम धरती, धमिक जनता एवं शोषित के प्रति विशेष रूप में रहा और शोषकों का विनाश करने के लिये वह आह्वान करने लगा^२। नये सवरे के प्रति कवि की भावना बड़ी प्रबल रही है और शोषण के विनाश के लिए उठने वाले समता के सूर्य के प्रति उसका मन निरंतर आश्रित रहा है। वर्तमान दयनीयता का चित्रण उमने व्यवस्था के प्रति घृणा एवं आक्रोश उत्पन्न करने के लिये किया और नये जीवन के प्रागमन की घोषणा आम्नापूर्ण स्वर में की^३। भावना का यही स्वर निराशा एवं पराजय की घुटन के क्षणों में भी जीवन का बड़ा सञ्चल रहा है। वर्तमान के प्रति तीव्र असंतोष और उथल-पुथल कर सब कुछ नया-रूप ढालने की कामना को अनेक प्रकार से अभिव्यक्ति दी गई है। परिवर्तन की तीव्र इच्छा और क्रांति के प्रति उत्कट लगन ने कवि की यात्री की सामर्थ्यवान् अभिव्यक्ति प्रदान की है^४। बल्लरी परिस्थितियों में कवि की भाव-भूमि में सामूल परिवर्तन हुआ और वह नये 'लोक देवता' की वन्दना "जागो मेरे लोक देवता" कह के करने लगा। (नन्द चतुर्वेदी) उसी लोक-देवता को शोषित और पीड़ित होता देख कर कवि ने चुनौती दी उन मन्त्रियों को जो उसे दफनाने को उत्सुक हैं।

प्राज्ञ असम्यक् बना कर तुमने जिनको हैं ठुकराया ।

बल उनकी सम्यक्ता उगेगी सुनो मुझे ललकार ।

बल उनकी आवाज एक ही बन्सेगी-ससार ।

(डॉ० दिनेश)

१—मुकुलकृत 'प्यासी मिट्टी का गीत' 'स्व० सुधीन्द्र कृत मिट्टी की महिमा और प्रकाराभूत कृत 'मिट्टी की पूजा' दृष्टव्य हैं ।

२—नन्दचतुर्वेदी गगाराम पथिक मयूख शांति भारद्वाज प्रकाश आतुर गणपत भट्टारी, मुकुल आदि की कविताएँ ।

३—'सप्त किरण' में सङ्कलित प्रकाश आतुर का गीत 'नई-पौध' तथा नन्दचतुर्वेदी की रचना 'धर्मवाद' । 'बादल और बासुरी' में शलभ का गीत—'प्राज्ञ की आवाज' ।

४—'जलती रहे मशाल, (डॉ० दिनेशकृत) तथा नन्दचतुर्वेदी की कविता 'दीप जलेगा' ।

अध्ययन और अन्वेषण

प्रगतिवादी काव्य में प्रचार की भावना भी बराबर नारेबाजी को सजा दी जाय, किन्तु यह सत्य है कि अपनी मान्यता रूप से राजनीतिक दृष्टि के विस्तार के लिये काव्य को माध्यम बनाय गया राम पथिक रणजीत साहि की कुछ कविताओं में साम्यवादी आग्रह देखने को मिलता है^१। इसी प्रकार दयाकृष्ण 'विजय पर परम्परावादी भाषी बनरस के मतियों का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। नन्चतुर्वेणी ने समाजवादी विचारधारा को अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक ढंग से अभिव्यक्ति दी है। वस्तुतः राजनीतिक मतवाद ने आग्रह विशेष के कारण कविता केवल माध्यम मान बन कर रह गई है। राजनीतिक ऋिक्रमों के आधार पर नन्चतुर्वेणी, पथिक चन्द्रदेव विजय-निर्वाचि चन्दुल जगदीश चतुर्वेदी गाँधिभास्कर साहि ने अन्धे प्रभावशाली व्यंग्य प्रस्तुत किये हैं^२। पथिक की 'जय बाबू बाजार की घोर "राम राज्य में सब चलना है आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। प्रगतिवादी विरोध रूप से मार्क्सवाद ने प्रभावित रहा है किन्तु इस बात विशेष की महत्त्व दृष्टि घोर मान्यताओं को राजस्थान के हिन्दी कवियों ने केवल सही रूप में ही स्पष्ट किया है। वैसे इन्सायन-भौतिकवाद का आधार तो शायद ठूठने पर भी न मिले। केवल भौतिकता और बौद्धिकता को ही एक निश्चित सीमा तक यहाँ का कवि मार्क्सवाद के नाम पर ग्रहण कर सका है। शोषण के प्रति आक्रोश का आवेग, इस सदर्भ की उन्मुखनीय विरोधता अवश्य रही है।

प्रणय के क्षेत्र में प्रगतिवादी कवियों ने कवि प्रचल का प्रभाव ग्रहण किया है। प्रगतिवादी-प्रणय का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित है घोर कवि ने सामाजिकता के संदर्भ में अपनी वैयक्तिक प्रणयानुभूति को चित्रित किया है। प्रणय का महत्व सामाजिक उत्तरदायित्व के परिप्रेक्ष्य में ही स्वीकार किया गया है। इसी कारण इस प्रकार के प्रणय निवेदन में छायावादी कवियों का निजलिङ्गान या वैयक्तिक कुंठा

१—'ये सपने ये प्रेन (रणजीत) की 'मर गया डरधर 'एक गद्दार की स्थीकारोक्तिया, 'सिर्फ एक शब्द नहीं आदि कविताएँ।

२—इन्सायन-शांतिभास्कर की 'टैक्सों से पीड़ित प्रजा की कहेया के नाम अरजी', 'किस्मत की बुलन्दी, चन्द्रदेवकृत पदितजी गजब हो रहा आदि कविताएँ तथा जगदीश चतुर्वेदीकृत 'नेहरू के नाम विरगे के नाम आदि लघु कृतियाँ।

या पलायन की वृत्ति नहीं है। छायावाणी कविया की भाँति इन कविया के समस्त कला, केवल कला के लिये नहीं है अपितु उसकी जीवन एवं समाज के लिये

१-(अ) बाँसुरी कैसे घजाऊँ मैं प्रणय की, नय प्रलयकी सुन रहा हँकार में
ओठ से कैसे, कदो मैं मुस्कराऊँ, सुन रहा हूँ जब करुण धीत्कार में
आज है जनपथ ध्वनित भूगोल ढोला, आज जय की क्रांति की है
ज्वार तैला

आज जाने दो कि जन-संकट बुलाता है मुझे
लौट कर जीता, करुणा यात तुमस प्यार की।

कल्पना के पंख पर बैठा हुआ—मैं—

पाव मं जंजीर, है ससार की। (रथ सुधाद्र)

(आ) आज नहीं है समय प्रणय के गीत रचूँ मैं
आज मुझे भ्रम देवी का पूजन करने दो।
इस मिट्टी से आज नया अवतार उठगा
आज मुझे इस धरती का धंदन करने दो।

इस धरती के जल्मों में तुम भरहम भर दो,
मे समझूँगा, तुमने जीवन-व्योति जलाइ।
इस धरती पर कण २ को तुम पावन करदो,
मैं समझूँगा, तुमने मेरी प्रीति निभाई।

(प्रकारा आतुर)

प्रीति और निर्धनता के बीच के अंतर की अनुभूति होत ही कवि अथु भला
उठता है।

(इ) प्रीति बनी निर्धन पर रत्नां बीढेरी
चौंफ २ जाता हूँ-शाप तुम्हारा है।
मन्दिर का हर द्वार, घूमने को आतुर
मैं हूँ एक पुजारी पाप तुम्हारा है।

कंठ कैद है, पायल की हर रुनभुन का, नय देहरी पर मौत मसिया गाती है-
मंजिल से आवाज तुम्ही आती है। (शांति भारद्वाज)

(ई) धरती पर मेरा प्यार खेलता धूल भरा धरती में रहता मेरा विश्वास हरा,
धरती पर मेरा प्यार, करोड़ों तन में है, मेरे सपनों का सत्य धरा के मन मं
(कमलाकर)

(उ) अंबर चुंधी गीत धरा की मस्ती चूम ले।

आँसू गीले गीत, बदलते युग पर भूम ले।

(सुकुल)

उपयोगिता भी है। मनुष्य के प्रति यहूरी घास्या होने के कारण कवि का विश्वास रहा है कि कबल घनन्तर्मन की पुकार, पलायनवाण्डिता का प्रतीक है और जो कविता जीवन के विरुद्ध चलती है वह विपथगामिनी है। कवि तो कबल सामाजिक संघर्ष से ही अपना नाता घोषित करता है और आग्रहपूर्वक कहता है कि चाहे उसकी प्रतिभा को भोकार न किया जाय किन्तु उसका व्यक्तित्व को व्यक्ति मान की चाहों से न जोड़ा जाय^१। इस के घतिरिक्त ईश्वर या धर्म के प्रति घोर लपेछा का भाव भी इन प्रगतिवादी कवियों में देखने को मिलता है। यस्तुतः एक प्रभाव मानसवान का ही कहा जाता चाहिये। कवि ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास ही नहीं करता और उसे मृत घोषित कर वैज्ञानिक बुद्धिवा^२ की प्रतिष्ठा पर जोर देता है। ईश्वर को वह शोषक-वर्ग का ब्रह्मान्न मानता है और उसकी मृत्यु पर प्रसन्नता व्यक्त करता है^३।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि राजस्थान के हिन्दी कवियों ने प्रगतिवाद की सामान्य भावनाओं को अपने काव्य में सफलतापूर्वक व्यक्त किया है। आज भी यह प्रवृत्ति नये सन्धों में देखने को मिलती है। जन-जीवन और सामाजिकता की भित्ति पर कविने अपनी विचार-धारा का साना-बाना बना है। राजस्थान के अधिकांश कवि-बन्धुओं के काव्य में सामाजिक-चैतन्य का स्वर मधुव प्रधान रहा है और उसे छायावाणी गीतिसैली या धधुनातन 'नई-कविता' के माध्यमों से भी अभिव्यक्ति दी गई है। शोषण की ध्याया यहाँ के दुहरी गुलामी के बतारवरण में भव्यी तीव्रता से अनुभूत हुई है और प्राकृतिक एव प्रतिरोध का स्वर इसी कारण बड़ी तेजी एव घोषस्वित्ता का साथ बुन्द हुआ है।

प्रयोगवादी काव्य-धारा —

पश्चिमी काव्य धारा के प्रभाव से सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं के साहित्य की भांति राजस्थान की हिन्दी कविता के प्रवाह में भी नया मोड़ आया है। इलियट

१—जीवन के विरुद्ध जो चलती यह कविता कुलटा है।

पला नहीं उसकी सन्तति है, आराधन उलटा है।

★ ★ ★

सामाजिक संघर्ष आज, केवल है मेरा नाता।

★ ★ ★

लेकिन मुझको व्यक्ति मात्र की चाहों से मत जोड़ो ('सुकुल समग ५० २)

२—'ये सपने ये प्रेत (रणजीत) की कविता—'मर गया ईश्वर' ५० १०

और एकरा पाठगढ़ व काव्य-रूप को अज्ञान भाँति कतिपय श्रवणी नवियों के माध्यम से प्राप्त कर राजस्थान व प्रतिभावान कविकर्मियों से नया निया में भी गति दिखाई है। गीतकार प्रबोधनार व्यंगकार और सजभाषा व छंदों में काव्य-रचना करने वाले कवि भी नयी निया में भाँति नाने का प्रयत्न कर रहे हैं। बौद्धिक दुरुहता लिय नये प्रतीका से युक्त महवाद की घोषणा करने हुए भी सामाजिक परिप्रेक्ष्य का स्पर्श करने वाली तथा निरारा कुठा और घुटन को अभिव्यक्ति देने वाली नए नयी काव्य-धारा के प्रति जितना आक्रामक देखने को मिलता है उतना ही हमका विरोध भी हो रहा है। मजे की बात यह है कि विरोध करने वाले भी नतीर फ़शन के हम धारा में घबगहन करने के लोभ का संवरण नहीं कर पा रहे हैं। राजस्थान में वल्लता गीतकारों की है मेरिन इन निया हम बात की सम्भावना को वम मिल रहा है कि नयी-कविता के क्षेत्र में भी यह मरुधरा सराक्त एक नमर्य सरस्वती-मुधो का महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है।

नई कविता के सदर्भ में नन्द चतुर्वेदी का नाम विरोध रूप से उल्लेखनीय है। समस्त उहोंने ही सर्वप्रथम राजस्थान में नये प्रयोगों व नई कविता की चर्चा प्रारम्भ की है। प्रांत में नये वेदे के जो इने गिने कवि-वधु हैं उनमें नन्द का स्थान प्रथम पंक्ति में ही है। उनके आलोचना की सम्ख्या भी कम नहीं है पर यहाँ भी सत्य है कि अनुमृति को मज्जम बनाने वाले शिल्पगत प्रयोगों सांकेतिक भाषा-नैली और रूपा की तीव्रतम अनुमृति को अभिव्यक्ति देने में समर्थ उनका वापक प्रथम बोध उनके आलाचका द्वारा भी गराहा जाना रहा है। नए चतुर्वेदी का महत्व इस दृष्टि से अधिक है कि जिस समय अधिकांश कवि बहु आवावा या प्रगतिवादी के स्वरों को दोहरा रहे थे उस समय इस कवि ने काव्य-चिंतन के नये आयामों की ओर ध्यान निया और प्रांत में हिन्दी-काव्य की अनुनाशन प्रवृत्ति का शुमारम्भ किया।

प्रयोगवादी नयी कविता ने अभिव्यक्ति के निमित्त जिन प्रतीकों और चिह्नों का प्रयोग किया वे परम्परागत नहीं हैं। नये प्रतीकों ने नये र शब्दों के अर्थ बोध को विस्तार दिया है और अनुमृत्तियों को नये स्तर पर लाकर प्रतिष्ठित किया है। अधिकांश नये प्रतीकों का अर्थ जीवन के यथार्थ से ही लिया गया है और उनमें प्रेयणीयता की दुरुहता भी नहीं है। प्रभात का चित्रण करते हुए कवि का कथन है—

घोस में धुली सुबह का,
भ्रिना रेसामी, लहराता
वत्पई भाँचल

फर गया है।

('मायाम' डॉ दिनेश पृ० ६)

इसी प्रकार संध्या का विम्ब देखिये—

राम का रोपी चेहरा ।

गम्भीर एकांत में लुटका हुआ ,

हसती हुई नर्स—घाँदनी उडा जाती है। ('मैं आगिरस ऋतुराज पृ ३४)

प्रयोगवादी कविया में घोर व्यक्तिवाद एवं भ्रह्मवाद के प्रदर्शन की प्रवृत्ति पाई जाती है। जीवन की असमर्थता ने ही 'ग्रह' के माध्यम से उसे तुष्टि प्रदान की है। ग्रह की भावना प्रयोगवादी काव्य की धुरी है जिस पर सारा चक्र घूमता है। मन की व्यथा सुपा क्षोभ सब उसके ग्रह को चुनौती देते हैं और भवचेतन को भूल की तृप्ति के लिये उसके मन का ग्रह उसे बीराने लगता है^१। ग्रह की यह भावना उसे आत्म-प्रचार करने के लिये विवरा कर देती है और वह अपनी ही मृग्यु की कल्पना कर, मानसिक प्रानन्द की अनुभूति प्राप्त कर अपने ग्रह का गुप्त करने का प्रयत्न करता है। अपने का घृणिन से घृणित सिद्ध करने के पीछे उसका मूल लक्ष्य यही है कि यह अपनी ego को किसी न किसी माध्यम से सतुष्ट कर सके। अपनी ही समाधि पर अपना ही मसिया पढ़ कर वह आत्म-तुष्टि का भाव प्राप्त कर करता चाहता है^२। अपने व्यक्तित्व को विरोधार्थी का पुत्र कह कर, वह अकारण ही मन्त्र प्राप्त करना चाहता है और इसी बात में सतुष्टि का अनुभव करता है कि उसका व्यक्तित्व अनेक घुरियों पर घूमता है। अपने मन की परिधिहीनता को समय के सम्पास से नापने की बात कह कर वह भवचेतन में सोये ग्रह को ही वो तुष्ट करना चाहता है^३। इस विद्वत ग्रह की तुष्टि के लिये वह 'अन-इन्टरालन बात कह कर सहृद्य चौका दना चाहता है—
मेरा मन कुत्ते की टुम है।

१—'नील जल मोई परछाइया -त्रयसिद्ध 'नीरन पृ० ६६

२—'समाधि-जेस कविता ('मैं आगिरस ऋतुराज, पृ० ८६)

३—'कुत्ते की टुम शीर्षक कविता—प्रकाश आनुर ।
राज० साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'राजस्थान के हिन्दी कवि'
भाग १ में संकलित।

भट्ट-वृत्त सा

संनिवृत्त इमकी परिधि नदी है

परिधि रचित है व्यास रचित है

एक केन्द्र बिंदु में केवल

त्रिक सक्तता कम्पान समय का । (प्रकारा मानुर)

प्रायः नयी कविता के उद्बोधनों पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनका काव्य सामाजिक-शायित्व का निर्वाह नहीं करता । इस कथन को पूर्णतः सत्य न भी मानें तब भी यह तो स्पष्ट ही है कि नयी कविता में सामाजिक चेतन का स्वर उतनी प्रखरता से नहीं उभर पाया है जितनी प्रखरता से प्रगतिवादी काव्य में उभरा है । युग परिस्थितियों की अनिवार्य आवश्यकताओं और कतिपय महत्वपूर्ण प्रभावों ने नयी कविता को भी सामाजिकता का स्वर दिया है और इस प्रकार की रचनाएँ काफी महत्वपूर्ण एवं सशक्त बन पड़ी हैं । यथार्थ का महारा खेकर कवि ने अपने लुप्त भूत को विमर्जित कर अपने समस्त चेतना का समाज के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत कर अपनी सीमित क्षमता को विराट् बनाने का प्रयत्न किया है । सामाजिक परिवेश में यथार्थवादी चित्रण कर कवि ने पीड़ित एवं शोषितजनों की वदना को नये उपमानों एवं नये सम्बंध सूत्रों के साथ प्रस्तुत किया है—

टेढ़ी मेड़ी टूटी फूटी एक सत्क

ज्यो बिधवा की मांग ।

उसी सड़क पर माझ सवेरे घाती बस

शांत-रस के नाटक में विदूषक सी ।

दोड़ पड़ते बच्चे ज्या पिछोरा क सन्दूक मे,

निक्स भायी बीमारियाँ ।

मैल मिट्टी से लिपटे,

उभरे फूले पेट पर

सूखी पानी पसीने की धारें

सिर से पाँव तक मंगे खडे,

ज्यों भारतवर्ष के रिस्तीक नकशे । (नेमनारायण जोशी)

या

मध्यवर्गीय सामाजिक

गला बूच्चों में, मीड़ मडकू में सटे हुए

पत्ता की मरमर म घंटे हुए

फफक रहे हैं धोक । (नील जल सोई परछाईयाँ जयसिंह 'नीरज')

घुटन, निराशा, कु ठा और मनास्था का प्रदर्शन, प्रयोगवादी काव्य में बड़े विस्तार से हुआ है । धार व्यक्तिकता और सामाजिक वधम्य के फलस्वरूप उत्पन्न जीवन की असफलताओं में इस प्रकार की प्रवृत्ति को 'प्ररणा' दी है । छायावादी कु ठाओं में अनुभूत सत्य अधिक है और प्रयोगवादी कु ठाएँ आरापित अधिक प्रतीत होती हैं । आज का सम्पूर्ण मध्यवर्गीय समाज तरह तरह की विकृतियों से कु ठाया से अभिभूत है और हमीलिये लोग मुलौटे धारण कर वास्तविकता को छिपाने का प्रयत्न करते हैं । इन प्रयोगवादी कविया ने व्यक्तिगत कु ठा को नये २ विलपगत प्रयोग कर विस्तृत आयास दिया है । उनकी घुटन और निराशा में व्यथा का बोध नये २ स्तरों का स्थापन करता है । नया कवि घुटन में छटपटाता है और मुक्त होने के लिये हाथ पाँव पटकता है^१ । यह बेकली करह दमघोटू कड़वाहट सामाजिक मान्यताओं का कठघरा आदि आज के नये कवि की विवगताएँ हैं और इन सब से सघर्ष-रत वह टट्टा जा रहा है^२ । वह अपने दर्याज का अहनिश बला रहा है, यह मान कर कि वह समस्त दुःखों का पुजीभूत प्रतिबिम्ब है और अपनी कु ठाओं में ही वह सृष्टि के मर्ष को लिये घूमता रहता है^३ ।

१—आखिर यह यदिश क्यों ?

में अपने आँसू भी न पी सकूँ

अपनी चाहत पर भी जो न मझूँ

दीवालिया भाग्य पर बुदबुदाता रहूँ

हर-मार हर घड़ी ।

('कारा - नील जलमोह परछाईयें नीरज-प्र० ३६)

★

★

★

२—बही-प्र० ७० तथा प्रकाश आतुर कृत 'आ मेरे धराधरी कविता ।

३—यह गुह्य अनुभव मुताया शरीर

ये लघु रोम रूप खिचकियाँ

अपने विपरीत व्यक्तित्व की अनुभूति कवि को निरंतर होती रहती है। अपनी उपनिषदों के लोललेपन से परिचित होकर वह अपने महिमामय व्यक्तित्व के अभिनय की निरर्थकता को स्वीकार करने लगता है। उसे आत्महीमता की पुष्टि होने लगती है। बुद्धि की सीलनमयी कोठरियों के भ्रमकार का मय उसे लील जाता है और उसे यह कहने को विवश होना पड़ता है—

भाज मैं वह नहीं हूँ
जो होना मेरे अस्तित्व की सार्यकता होती।
जो बनना मेरी सिद्धि कहलानी
जिसे पाता उपनिषि गिनी जानी ।

★ ★ ★

भाज मैं 'स्वयं नहीं हूँ, शायद' उसकी छाया भी नहीं हूँ
मैं केवल सबका गढ़ा हुआ

एक दम मात्र हूँ

एक सार्वजनिक प्रार्थना

कठपुतली का निरीह अभिनय मात्र (मूजबन्द पाठक)

और यही विवशतापूर्ण निरीहता सायकताहीन अस्तित्व का यह बोध उसकी पलायनवृत्ति को चाग्रत कर देता है और वह स्वयं को टूटी पंक्ति और खोईत कामनाओं का प्रतीक मानने लगता है। यह निराशा उसके अन्तराल को इतनी गहराई तक प्रभावित करती है कि वह स्वयं को जीवन का भोक्ता नहीं दर्शकमात्र अनुभव करने लगता है।

सूर्य महल सिर

नाभि कुण्ड में उतरा हुआ चादल

धूल सने पहिये ये पाव

यह मन की कुंठा ये कुँठिन इन्धायें

फाले कपोत आसों में

सब कुछ नश्यमान

इसी तरह मैं मृष्टि का अर्थ लिये फिरता हूँ ।

(मैं आगिरस ऋतुराज प्र० ४२)

बस घाई और चली गई
 मैं, टूटी पंक्ति का, खंडित कामनाओं का
 वचित भाराभा का
 एक निरीह साक्षी सा दूर खड़ा रहा ।

● ● ●
 केवल उस बस में पीछे उड़ती
 गई, भर हाथ लगी
 जो मेरी ही तरह पीछे धकेल दी गई थी
 जो सहानुभूति लिखवाने
 मुझ समानघर्षों के पास घाई थी ।

● ● ●
 मैं बस का उपमोक्ता नहीं बन सका,
 मैं उसका दूरगम्य दर्शक मात्र हूँ ।

(टूटी पंक्ति खंडित कामनाएँ मूलचन्द्र पाठक)

मृत्यु की काल घाट्र वाली नगी को वह भूल नहीं पाता । वह अपनी
 सीमित क्षमता में परिचित हूँ और अघकार की काली घाट्र में उसे ईसा और
 मेरला मुनरो के चहरों में कोई भेद प्रतीत नहीं होता । निर्लिप्त, इच्छा रहित,
 अगम्य सभी चहरों में उसे एक ही भावसाम्य देखने को मिलता है—

फिर आकाश के कगार से बका सूर्य
 धीरे-२ नीचे उतर जायगा और मैं
 बन दूर की आठियों
 मन्मली बुबडी चट्टान।
 चिमनी के काले और घुमावदार घुँए से
 देखता बैठे मी रहूँगा तो क्या होगा ?
 सभी २ सूर्य फिर निकलेगा तो नहीं ।
 इस अघकार में मुझे काले जगदाली नगी—
 बार बार याद आएगी
 जिनकी रेत में
 आत्महत्या की छोटी सी चीख गड़ी हुई है ।

आह ईश्वर ! तब ये दोनों चन्द्रे प्र प्रकार से फिर उठे,
मुझे प्रतीत होने लगेगा कि,

इन क्षणों में ईसा और मेरनामुनरों के चन्द्रे

विस्तृत एक में है,

निलिप्त इच्छा शाय, प्रगम्य (मृत्यु-नन्त चतुर्वेदी)

क्षणवादी भावनाएँ भी प्रयोगवादी क्रिया में गहरे संस्कारों के रूप में प्रतिष्ठित हैं^१। सार्वभौमिक साक्षात्कार के विचारों ने इस विश्व में प्रयोगवादी भावना की मान्यताओं को प्रभावित किया है। नये ज्ञान वाले क्षणों से बड़ा सत्य इनके लिए और कुछ भी नहीं है। 'अन्तर्गत-एव' में इनकी भावना नहीं है और उपलब्ध क्षणों को गुल कर भोगने और जीने का विशेष ध्यान इन कवियों का रहा है। प्रयोगवादी भावना वर्तमान के प्रति आस्था इनका जीवन-धर्म रहा है। प्रयोगवादी काव्य में जो निराशा और कुठाराघात है उसका मूल कारण यह क्षण-भोग की प्रति ही है जो प्रकृति के क्षणों में व्यक्तित्व को कुठाराघात कर देती है। क्षण का आनन्द उसे हर्षित एवं तुष्ट करता है और जिस ज्ञान वाले हर क्षण को वह एक स्वतंत्र इकाई के रूप में भोगता है। एक क्षण के प्रभाव की अनुभूति को कवि विस्तृत परिप्रेक्ष्य के संदर्भ में प्रस्तुत कर शब्दों का लक्ष्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है^२। एक सरसरी दृष्टि में जो कुछ अनुभूत हो जाय उसी को धरम सत्य मान कर, उस क्षण के अस्तित्व की सार्थकता को वह मूल रूप देने का प्रयत्न करता है^३। सामक के क्षण का एक चित्र देखिये -

१—'या हिन्दी काव्य (डॉ. शिषकुमार मिश्र) प्र० २०६

२—'धूँदी में परीक्षाएँ (मैं आगिरम चतु राज प्र० ४५)

३— कविता व लघु परिवेश में उस छोटे से छोटे क्षण के प्रति भावना आस्था है, जिसे अब तक महत्वहीन समझ कर मानव इतिहास ने अग्रहेलना की दृष्टि से देखा था। जीवन के प्रवाह में इन महत्वपूर्ण क्षणों का अस्तित्व आज के सौंदर्यबोध और भावबोध को अधिक व्यापकता और बहुलता प्रदान करता है।

(नयी कविता के प्रतिमान—लक्ष्मीनाथ उमा प्र० ४)

इन्तजार कीजिये

खेल शुरू होने म जरा देर है ।

अभी तो मंच पर स्वर्ण बिखेरा जा रहा है

शोरगुल शांत किया जा रहा है ।

★

★

★

चाड़ी देर बाद

घु घियाने का परदा ढाल

मोती बिखरे जायेंगे

फिर पर्दा उठने पर

दृष जैसी रोशनी में नायक

मोती चुनने का खेल दिखलायेंगे ।

(धूप भरी सुबह जुगमन्दिर तायल पृ २०)

दण—सरय की तीव्रतम अनुभूति नन्द चतुर्वेदी की कविताओं में देखने को मिलती है । दण की महिमा के लिये उनका कहना है—

झोर क्या है भूमि की अनुभूति मे ?

एक दण है

स्वप्न है पूरे, अपूरे, टूट ख सुख के

एक जग उद्दाम प्राणा की पिपासा

एक दण है फूल की अविजित मुरमि का । (नन्द चतुर्वेदी)

अपने अमित्य-वाचक व लिये कवि को महीनो या चर्पों का समय नहीं चाहिये । उम तो केवल उम एक दण की कामना है जिसमें वह अपने से ही भेंट सके । उम केवल एक तो ऐम शब्दों की चाह है जिसमें वह जन्म मरण को देख सके । उम दण उसे झोर बुद्ध नहीं चाहिये । अमित्य-बोध के एक दण की प्राप्ति व लिये वह शप ज्ञ बुद्ध भी है, उसे उम दण प्राप्त करना नहीं चाहता । वह जन्म समूची जिन्दगी को दणों के धारे म विरो कर भोगना चाहता है ।

मुझको दा एक दण

जिसमें म भेंट सकू

जो बुद्ध म हूँ

उम गर म ।

धान बस इतना ही
 रोप फिर, रोप फिर ।
 मुझका तो एक शब्द
 जिसमें मैं देव सखू
 जन्म मरण
 नृपा-शमन
 धान बस एतना ही

रोप फिर, रोप फिर । (मन्त्र चतुर्गे)

दृष्ट का यह सूत्र विचार-मन्त्र की प्रधानता को प्रस्तुत करता है जो प्रयोगवादी की एक प्रमुख विशेषता है। जीवन की व्यवस्था और संगुणता का वातावरण में सृष्टि-भोग की चाह या सृष्टि-मात्र की अनुभूति की सहायक अभि-व्यक्ति रामस्थान के अनुरूप और भी हिन्दी कविता में देखने को मिलती है। समय के वेग में बहने वाली धार की एक एक सहर के साथ कवि जिया है^१ और सृष्टि के सूत्रों को जोड़ कर उन्नत गुण्ड जीवन-व्ययन स्थापित कर मन को उल्लासित किया है^२ ।

प्रयोगवादी कविता ने व्यंग्य शैली के भी अच्छे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। सामाजिक वैषम्य निराशा कुठा घुटन, मुन्वीटेगरी व्यक्तित्व और मध्य वर्गीय विद्रोहताओं पर कवियों ने मशाल व्यंग्य प्रस्तुत किये हैं। इन व्यंग्य में कही झुझलाहट है वहीं आक्रोश है और काल देला मारने जमी बात भी है^३ । प्रेम की विकृतियाँ जो धातुनिक व्यवसायिक युग का परिणाम हैं कवि ने व्यंग्यपूर्ण ढंग से चित्रण किया है और मवानि मिथ के गीत फरोश की भाँति प्यार फरोश की बात कही है^४ । आत्म-स्वीकृति के रूप में कुछ कविता ने सब की आत्मा का दर्पण प्रस्तुत कर जीवन की विकृतियाँ पर सज्ज भाव से व्यंग्य प्रस्तुत किये हैं । कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

- १-दृष्टव्य-शांति भारद्वाज की शीघ्र प्रकाश्य कृति 'समय की धार की रचनाएँ'
 २-दृष्टव्य-डॉ० क० हैयालाल सहल की 'सृष्टि के धारा की भूमिगत कविताएँ'
 ३-दृष्टव्य-नन्दचतुर्वेदी रणजीत डॉ० दिनेश, आतुर, नीरज, जुगमदिर,
 मूलचन्द पाठक, आदि की व्यंग्यप्रधान कविताएँ ।
 ४-मैं न्यार बेचती हूँ । (ये सपने ये प्रेत रणजीत १० ८३)

हम सब शत्रुपुर्ण है
 घोसे में बसने ह रेत में सर देकर
 रक्षित समझते ह,
 बतियाते हैं बहुत, पर कुछ नहीं करते हैं। (धर्मसिंह निरख)

★ ★ ★

दायरे से तकते ह
 सिक्कुडना कर्म है, विस्तार ही अघर्म है
 भाँगन में बँठना, बहुत बड़ी शर्म है। (जुगमदिर लायल)

★ ★ ★

हम सब लीज
 जो यर्ग से भावू है
 रग से पीले ह कातिहीन चहरा है
 भावों पर बटा नित कु ठा का पहरा है
 छलना में जीते हैं,
 सपना में विचरण कर मन को बहलाते है।
 दूसरों को छनने में खुन ही छने जाते हैं।

★ ★ ★

मन में सो सो रखा नफरत का पीघा है
 प्यार करने का पर दौंग रवे जात हैं,
 अर्धहीन धनियौ दोहगने ह
 कहते ह माने ह
 पीर पीर रहते, बपीर हूण जाते ह। (प्रकाश श्रातुर)

★ ★ ★

हम मत्र रेग के पाडे ह
 त्रिगणी पी ऊवड त्यावड़ साइका पर
 घम, ईमान की फगलां को री ने
 बित्रती ग बीघा
 येनगाम, बगवार लीडे है (शान्ति भाट्टान)

उपयुक्त विवेचन, आवश्यकता से अधिक विस्तार पा गया है और अब इसे यहीं समाप्त करना उचित प्रतीत होता है। यह सारा विवेचन, वस्तुतः परिध्यात्मक ही है और किसी भी प्रकार का मूल्यांकन प्रस्तुत करने का विशेष प्रयत्न नहीं किया है। इस सम्बन्ध में मेरी मायता यह भी रही है कि अभी तो राजस्थान के हिन्दी कवियों को मूल्यांकन की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी कि उन्हें प्रचार और प्रसार देने की है। इसी दृष्टि ने मुझे यह लेख लिखने को प्रेरित किया है, जिसका उल्लेख मैं प्रारम्भ में ही कर चुका हूँ। समय की भार में जो श्रेष्ठ काव्य साहित्य-प्रेमियों द्वारा प्राप्त होगा, उसका मूल्यांकन भी हागा। अभी तो खोजन-कर्म ही गतिशील है, उसी का परिचय अपेक्षित है। अभी मूल्यांकन करने की बात मुझे समय से पूर्व की स्थिति की लगती है। अब इस लेख के अंत में यह स्वीकारने में मुझे कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती कि इस लेख में पारध्यात्मक टिप्पणियाँ ही अधिक हैं और मूल्यांकन का प्रयत्न नाम भर को ही है। एक बहुत बड़ा अभाव इस लेख में यह भी रहा है कि सांस्कृतिक धेनना के प्रतीक कविपथ महत्त्वपूर्ण महाकाव्यों और महाकाव्यों के सम्बन्ध में मैंने मौन ही धारण रखना उचित समझा है। महाकाव्यों पर लिखने के लिये जिस विस्तार की अपेक्षा होती है वह इस लेख में संभव नहीं थी, और फिर महाकाव्यों पर तो स्वतंत्र लेख लिखना, मैं अधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। इसी कारण महाकाव्यों का कोई उल्लेख मैंने इस लेख में नहीं किया है^१।

राजस्थान की हिन्दी-काव्यधारा पिछले १५-१७ वर्षों में जिन दितिजा का स्पर्ण कर गतिमान रही है उसका संक्षिप्त परिचय ही मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ। मेरी यह दृष्टि धारणा है कि राजस्थान में प्रतिभा-पुत्रों का अभाव नहीं है। आवश्यकता सहज ही आलोचकों एवं समर्थ प्रकाशकों की है जो उनके योग्य सिद्धांतन की व्यवस्था कर सकें। विगत वर्षों में राजस्थान की काव्यधारा में मात्र धारण प्राप्त हैं पर उसकी गति रुकी नहीं है। राजस्थान का हिन्दी कवि हिन्दी साहित्य की नयी वृद्धि में अपना यत्नकृत योगदान देने में समर्थ हो सकेगा इसका मुझे विश्वास है। राजस्थान के हिन्दी काव्य की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि हम सभी अमुविधाया की मार भय कर भी टूट नहीं हैं और अविध्य की यत्नकृत आकृति देने की चेष्टा में लगे हैं। हमारा यह सन्तुष्ट है कि हम देश को उच्च कृतित्व से श्रेष्ठ गति करने की निरंतर चेष्टा करते रहेंगे^२।

१-लक्ष्मण्य-रामानंद तिवारी कृत 'पार्वती परमेश्वर द्विरेफ कृत मीरा
'युगल्लता प्रेमचंद तथा डा० रामगोपाल शर्मा दिनेश कृत
'सारथी महाकाव्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

२- राजस्थान के कवि (भाग १) भूमिका-नंद चतुर्वेदी। प्रकाशक-राजस्थान
साहित्य अकादमी।

श्रांचलिकता और उपन्यास

श्रांचलिकता प्राधुनिक हिन्दी उपन्यास की एक प्रवृत्ति विशेष है। एक श्रांचलिक कथाकार के अनुसार जिस कथा-कृति में किसी विशिष्ट जनपद या क्षेत्र के जन-जीवन का समय चित्रण हो जिसमें वहाँ की भाषा वेशभूषा, धर्म, जीवन, समाज संस्कृति और धार्मिक तथा राजनतिक वागरण के प्रश्न एक साथ उभर कर आएँ वह श्रांचलिक कथा साहित्य होगा^१। श्रांचलिकता की यह परिभाषा विवादास्पद नहीं है। एक लम्ब-प्रतिष्ठ समीक्षक ने अपरिचित भूमियाँ और प्रजात आतियों के जीवन के वैविध्यपूर्ण चित्रण को श्रांचलिकता की संज्ञा दी है और प्रादिम तथा पिछड़ी जातियों के स्वच्छन्द जीवन में मिलने वाली नैसर्गिक प्राण-शक्ति के प्रति आकर्षण को इसका प्रेरक माना है^२। एक अन्य मान्य कथाकार ने नागरिक जीवन को कृत्रिम और ग्रामीण जीवन को उन्नत मानने वाली धारणा का खण्डन करते हुए प्रश्न किया है कि विकास की गति में पीछे छूटकर बड़ रहा जन-परिवेश का चित्रण ही उच्च और स्थायी साहित्य की गर्त है, यह किस कथा-प्रधिनिष्ठ में प्राता है^३। यद्यपि यह सच है कि एक पिछड़े हुए समाज का जीवन मशीनी सम्मता के प्रभाव में एक सीमा तक झट्टने रहने के कारण इतना यांत्रिक नहीं हुआ है मानवीय मूल्यों के प्रति एक संस्कारगत चेतना भी वहाँ मिलती है, किन्तु सम्मता के विकास की गति में पीछे छूट जाने के कारण वह इतना जड़ताग्रस्त भी है कि उसके प्रति प्रतिरिक्त प्रासक्ति व्यक्ति की झूठावस्था को उन्मुख प्रचेतन प्रवृत्ति के समान ही (मघार्थ को स्वीकार करने की असममता से उत्पन्न) पलायन है। पिछड़े जन-जीवन का चित्रण स्वयं में साम्य न होकर यदि हमारी मानवीय सहानुभूति को विस्तार देता है या यदि हमारे प्रात्मा की क्रिया पुनरुत्थान को व्यक्त करता है तभी वह साहित्य में गृहीत होकर हमारे सांस्कृतिक जीवन का रस हो सकता है। यदि पिछड़ी हमी जातियाँ के जीवन को ही श्रांचलिकता

१ राजेन्द्र अशरथी २ नन्ददुलारे शत्रुपेयी ३ राजेन्द्र यादव।

का विषय माना जाए तो कुछ ही उपन्यास हिन्दी में मिलेंगे। पारचार्य उपन्यास में प्राचलिक (Regional) की सजा^१ प्रायः उन्हीं को दी जाती है जो शहरी जीवन की आधुनिक पृष्ठभूमि पर आधारित न होकर किमी अविकसित भू-भाग से सम्बन्धित होते हैं। उस पृष्ठभूमि में भी व्यक्तित्व का और मनोवैज्ञानिक प्रेरणाओं का अनुशीलन प्रधान होता है। लेकिन भारतीय नगर-जीवन अभी अनेक प्रशों में आधुनिकता से अप्रभावित है और उन अशों को पृष्ठभूमि बनाकर लिखे गए उपन्यासों को प्राचलिकता वा सकता है।

किसी भूखण्ड या प्रकल को क्या का केन्द्र बनाने से ही कोई उपन्यास प्राचलिक नहीं होता। पुराने उपन्यासों में प्रमचन्द के 'प्रमाश्रम', 'रंगभूमि' और गोपाल के भविष्यशा व्यापारों का केन्द्र कोई गाँव है पर उस ग्राम को ग्राम-साम्राज्य ही रहने दिया गया है उसे विशिष्टता देना उपन्यासकार की दृष्टि नहीं है। वह तो देश के पीछित एवं शोषित-वर्ग-किस्माल के जीवन की क्या कहता बाह्य है और इस दृष्टि से सब गाँव एकसे हैं। नये उपन्यासों में 'भूठा सप' के प्रथम भाग में लाहौर की एक गली को क्षेत्र बनाकर निम्न मध्यवर्गीय पञ्जाबियों के जीवन का एक वृहत् दृश्य प्रकृत किया गया किन्तु शून्यिक वह उपन्यास के एक वृहत्तर चित्र का अंग है अतः प्राचलिकता वहाँ क्या के एक सीमित भाग में ही मिलती है। इसके विपरीत 'बूँद और समुद्र' में एक अभावप्रस्त साहित्यकार के जीवन की ट्रेजेडी की पृष्ठभूमि लखनऊ का चौक है—चौक का आर्थिक, राजनीतिक धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन। सेलक का ध्येय चौक को केन्द्र बनाकर देश के मध्यवर्गीय जीवन का गुण-दोष भर चित्र ज्यों का त्यों देना रहा है एक सीमित क्षेत्र को विराट के दर्शन का माध्यम बनाया गया है। अतः 'बूँद और समुद्र' प्राचलिक उपन्यास है। 'मजा प्राचल' प्राचलिक उपन्यास है क्योंकि सेलक ने पूर्णिया जिले के एक गाँव को पिछड़े गाँवों का प्रतीक मानकर इस उपन्यास की क्या का केन्द्र बनाया है जिसमें फूल भी है, गुल भी फूल भी है गुलाम भी कीचड़ भी, चन्दन भी, सुन्दरता भी है, कुरूपता भी, उपन्यासकार किसी से भी दामन बचाकर निकल नहीं पाया।

१—Contemporary literature by D W Hoesey

२—यशपाल ३ अमृतलाल नागर ४ फणीश्वर रेणु

पर 'रूपाजीवा' प्रांचलिक उपन्यास नहीं है, हालाँकि उसमें भी समस्त ध्यापकों का केन्द्र एक बस्ती है। बस्ती के जीवन के माध्यम से ही उपन्यासकार महामुठ के दौरान बदलते जीवन-मूल्यों को चित्रित करता है और स्वातन्त्र्य आन्दोलन में भाग लेने वाले लोगों के प्रेरक घादरों के सम्बन्ध में उनके व्यक्तित्व से (सही या गलत) निष्कप निकालता है, किन्तु चूँकि यहाँ महत्व बस्ती का नहीं है बल्कि उसे भी प्रांचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। प्रांचलिकता का भाष्य तो एक परिवेश को सजीवता से प्रस्तुत करने का है, चाहे वह शहर का हो या गाँव का—'सचल एक देहात भी हो सकता है, एक भारी शहर भी, शहर का एक मुकत्ता भी और न इन सबसँ दूर सपन बनों की उपत्यकाएँ भी' २। मोटे तौर पर प्रांचलिक उपन्यासों को सामाजिक उपन्यासों के अन्तर्गत रखा जा सकता है किन्तु अपनी विशिष्ट प्रकृति के कारण वह एक अलग विधा की श्रमदा करता है। यों साहित्य में वर्गीकरण केवल औपचारिक है सामाजिक उपन्यास स्वयं में एक लक्ष्य विभाजन है, क्योंकि व्यक्ति के अन्तर्मन को प्रमुक्तता देने वाला उपन्यास भी अन्तिम विरलोपण में सामाजिक उपन्यास ही है, वर्गीकृत अभ्ययन से केवल भुविषा के लिए है। यद्यपि प्रांचलिक और अनात्मिक उपन्यासों के बीच कोई स्थिर सीमा-रेखा नहीं रोपी जा सकती, किन्तु जिस तरह इतिहास से सम्बन्धित कथानक को लेकर चलने वाले उपन्यास ऐतिहासिक सजा के अधिकारी हैं उसी प्रकार अवल-विरोध के जीवन को चित्रित करने वाले उपन्यास 'प्रांचलिक' कहे जा सकते हैं। उपन्यास पहले उपन्यास है, फिर 'प्रांचलिक' या अनात्मिक।

प्रांचलिक कथा साहित्य को प्रमचन्दोत्तर उस कथा-साहित्य की प्रतिक्रिया के रूप में देखा गया है जिसमें समाज-विच्छिन्न व्यक्त का चित्रण प्रमुख हो गया था। एक प्रांचलिक उपन्यासकार के अनुसार "व्यक्तिवादी" विषय तक साहित्य के विच्छिन्न और प्रेमचन्द युग की अर्ध-टूटती परम्पराओं का मोह छोड़कर नये युग के नये ध्यापकों को अपनी समर्थ सेवनी से छानने उभार कर लाने का काम इस धीमरी धारा ने किया है, जिसे 'प्रांचलिक-साहित्य' कह सकते हैं^३। इन उपन्यासों के व्यक्तिवादी विघातक तत्व क्या हो सकते हैं, इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है। (उनके नयक निष्काल से परे हवा में लटकते हुए प्यार, पृण और धारमान्वेषण के

१—सुदमीनारायणलाल, २ राजेन्द्र अक्षथी ३ राजेन्द्र अक्षथी।

शीर्षासन करते ह—राजेन्द्र राव) पर 'नये युग के नये धायमो कानया ताप्य है यह स्पष्ट नहीं है। फिर ध्यन्तितवाणी उपन्यासों की विशेषताओं की उपादा कर केवल कुछ 'विधातक सत्वों को बताने मात्र से प्रांचलिक उपन्यासों की धेष्ठता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि नैतिक धारणाएँ या धादर्श फला की फसौटी नहीं हो सकते। इसके प्रतिरिक्त यह भी कहा गया है कि समाजवादी उपन्यासों के प्रति प्रतिक्रिया भी प्रांचलिक उपन्यास के विकास में फारण बनी, क्योंकि उन उपन्यासों में मनुष्य के रूप में केवल सिद्धान्तों में ठसे ध्यक्ति का चित्रण हुआ है। नैकिन धिन उपन्यासों को हिन्दी के प्रांचलिक उपन्यासों में महत्व दिया जाता है उनमें नागाजुन के उपन्यास भी ह और नागाजुन निरिचित रूप से और स्पष्टतः मार्क्सवाणी दृष्टि से जीवन का चित्रण करने हैं। एक ममोउरु का मत है कि दृन्म नागरिक जीवन के चित्रण की बागी परस्पर से ऊरे लेखकों—वाठकों की प्रतिक्रिया ने प्रांचलिक दृत्तियों व लिए बातावरण बनाया'। यह मत इस पूर्वाग्रह को भेकर चलता है कि नागरिक जीवन अनिवार्यतः दृन्म है धत उसका चित्रण प्रभाव हीन होना चाहिए। किन्तु यहाँ यह सप्य मुला दिया गया है कि उपन्यास में चिन्तित जीवन वह नागरिक हो या ग्रामीण, धादिम हो सप्य प्रभावशाली या अप्रभावशाली होगा ता उपन्यासकार के अनुभव—धणत् जीवन—दृष्टि और रचना कौशल के अनुरूप ही होगा। प्रान्म जन—समाज की उद्गम प्राण—शक्ति के प्रति हमारा प्राकर्षण स्वभाविक है पर उसका प्रभावशाली चित्रण उपन्यासकार की सामर्थ्य पर निर्भर है। समर्थ उपन्यासकार तो नागरिक जीवन का भी प्रभावशाली चित्रण ही करेगा।

वरतुत प्रांचलिक उपन्यास को कवल किमी प्रतिक्रिया स जमा मान लेना सगत न होगा। यह एक नवीन क्षेत्र या त्रिभने बहुत से लेखकों को कलम प्राक माने का निमन्त्रण दिया। प्रत्येक साहित्यिक प्रवृत्ति किनी न किमी रूप में धतीत से जुडी होती है इस धीपन्यासिक प्रवृत्ति को हम प्रेमचन्द की परम्परा के विकास के रूप में देय सकते हैं। प्रेमचन्द में श्री प्रांचलिकता के सीमित तत्व भेदि प्रागे के कुछ उपन्यासों में इन्ने प्रमुख हो गए कि उनके लिए एक धमग नाम देना धावश्यक हो गया। प्रांचलिकता के प्रवेश के लिए भारतीय और विदेशी साहित्यों के प्रभाव की भी शोध की जा सकती है।

एक देश की भाषाओं के साहित्य परस्पर प्रभावित होते ही हैं, किन्तु विभिन्न देशों के साहित्यों का एक दूसरे को प्रभावित करना भी आज एक आम बात है कारण कि एक सामान्य मानव संस्कृति का उदय विश्व के सित्तब पर हो रहा है और फिर इस प्रकार के प्रभावों की परम्परा तो सुदूर अतीत तक चली जाती है (आधुनिक भारतीय साहित्य पश्चिम के उन्नत साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं, कुछ देने की प्रवृत्तता हम अभी कम प्रकट कर पाए हैं) । मस्तु, हिन्दी के आचलिक उपन्यासों पर इतर प्रभाव भी पड़े हैं—सास तौर पर बंगला के ऐसे उपन्यासों और मंग्र जी तथा अमरीकी रीजनल उपन्यासों ने हिन्दी के आचलिक उपन्यासकारों को प्रेरणा दी है । किन्तु इन प्रभावों का शोष हमारा विषय नहीं है ।

हिन्दी में आचलिक उपन्यासों के एक-एक लोकप्रिय होने का कारण सम्भवतः यह है कि लेखकों ने यह महसूस किया कि व्यक्ति के अन्तमन के विश्लेषण को लेकर चलने वाले उपन्यास सिर्फ 'कुछ-उदास लोगों की ही संपत्ति हो सकते हैं, जो आत्म-निरीक्षण में समर्थ हैं और जिनके पास आत्मान्वेषण के लिए पर्याप्त अवकाश है । पाठकों का विद्यालय वर्ग अपेक्षित रह जाता है । इनमें बहुतेरे हस्या और बलात्कार के सस्ते किस्सों से प्यास बुझाते हैं किन्तु बहुत से प्रेमचन्द जैसे लेखकों के अभाव को बुरी तरह महसूस करते हैं, वे ऐसी कृतियाँ चाहते हैं जो माधना और चिन्तन की अनुमेय ऊँचाइयों को छूकर भी उनकी पहुँच के परे न हो । उनकी इस मांग को आचलिक कथा साहित्य ने एक हद तक पूरा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं । सामान्य पाठक प्रसुप्त अभिप्रायों के अन्वेषण की अपेक्षा प्रबलता से उद्बुद्ध संवेदों का अघात की कामना करता है । हमारे कथन का अर्थ प्राप्त यह नहीं है कि साहित्य में सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ पाठकप्रिय हैं, हमारे अन्तव्य का आधार केवल इतना ही है कि साहित्यिक प्रवृत्तियों ने उच्च-मस्त में पाठकों की भी एक भूमिका हा सकती है ।

आचलिक जीवन के व्यक्त और अव्यक्त सूत्रों से देश और दुनियाँ के विराट जीवन से सम्बन्ध होता है, अतः छोटी सीमा में शिखारि पड़ने वाली जीवन की शारीक से बारीक विविधता का प्रदशन और उन चित्रणों द्वारा सम्पूर्ण सामयिक, राष्ट्रीय एवं मानवीय चेतना की अभिव्यक्ति आचलिक उपन्यासों की प्रमुख विशेषता है मानवता के प्रति उत्कट अनुपपग, स्थानीय जीवन और प्रकृति का प्रति गहरा लगाव

से ही उत्पन्न होता है। अतः प्रांचलिक जीवन का कलात्मक प्रतिबिम्बन हमारी संवेदनशीलता को सम्पन्नतर और मनुष्य के प्रति हमारी भावना को विरादतर बनाता है। मिट्टी की ताजी गंध, चिर-परिचित पशु पक्षी पेड़-पौधों का सहवास, जीवन के सज्जबल-पुसर पहनू, उरसय मृत्यु-गान में निहित निसर्ग प्राण-शक्ति लोक कथाओं और लोक गीतों की भाव-समृद्धि महान् सांस्कृतिक विरासत और सहज मानवीय भाषा-भाकाषाएँ हमारे मन को उमग-तरंगित करती हैं तो प्राधुनिक समाज की जटिलताओं से वेष्टित समस्याओं परिवर्तनशील परिवेश के मध्य विभक्त भाव-स्तरों और युग के साथ बचने मूल्यों की घेतना जीवन के प्रति नया बोध देती है।

अंचल-विराज के जीवन को समग्रता के साथ चित्रित करने की बलवती स्पृहा प्रांचलिक उपन्यासों की मूल प्रेरक-शक्ति है। अतः इनमें कुछ सीमा तक 'डोकुमेंट्री' के सत्य होने हैं। उपन्यास आरम्भ से ही सामाजिक जीवन के चित्रण का शक्तिशाली माध्यम रहा है और इसी दृष्टि से उसे इस युग का महाकाव्य कहा जाता है। एक प्रांचलिक उपन्यास एक विशिष्ट भू-भाग या जनपद की प्राकृतिक विशेषताओं तथा वहाँ के निवासियों के सामाजिक, राजनतिक आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन का पूरा व्योम दे सकता है किन्तु केवल दृश्यचित्रता स्वयं से एक अच्छे उपन्यास को जन्म देने में असमर्थ है। साहित्य मात्र यथार्थ की प्रतिलिपि नहीं है। कोई भी थोड़ा उपन्यास सूचना-अर्थ नहीं हो सकता, वह एक रूपाकार है जिसमें जीवन का पुन-सृजन किया जाता है। प्रांचलिक परिवेश को कुछ पात्रों के माध्यम की कहानी बनाकर ही उपन्यास की विषय वस्तु बनाया जा सकता है। अंचल की प्रकृति के वैभव और लोगों के रीति-रिवाजों से रगे उपन्यास के पृष्ठ पर पृष्ठ कुछ समय बाद बुधने होकर हमारे लिए अर्पहीन होने हैं अजीबो-गरीब प्रथाओं के आकर्षण में विस्मृति का क्रीकापन आशाता है केवल कुछ पात्र हमारी स्मृति में नग के लिए बस जाते हैं। उनकी स्मृति से ही वह परिवेश जुड़ा रह सकता है और यदि उन पात्रों के अन्तर्म में हमने प्रवेश नहीं किया तो वे हमारे आविष्टपरणीय आत्मीय नहीं हो सकते। अतः केवल ऐसे प्रांचलिक उपन्यास ही महत्वपूर्ण हो सकते हैं जो व्यक्ति की सामुदायिक जीवन-पद्धति को चित्रित करने का उपकरण मात्र न हो, व्यक्ति की विशेषताओं के माध्यम से ही जिसमें एक जीवन पद्धति का रूपायन हुआ हो।

उपन्यास से यह माया करता कि यह किसी स्थान विशेष या वर्ग विशेष के जीवन के लिए निर्देशक ग्रन्थ का कार्य करे संगत नहीं है। न उपन्यास कभी प्रामाणिक इतिवृत्त हो सकता है और न उसके आधार पर सामाजिक जीवन का इतिहास तैयार किया जा सकता है। प्रतिष्ठित स्रोतों से किसी वर्ग के सामाजिक बाबू की जानकारी होने पर पर ही कोई बता सकता है कि उसे उपन्यास में किसी सीमा तक प्रस्तुत किया जा सकता है, क्योंकि कल्पना, ययाप और भेखक की वासनाओं को पृथक् करने के लिए प्रति-मूढम पान अपेक्षित है। 'उपन्यास से सामाजिक इतिहास का कार्य लेने का प्रयास भाव प्रभावहीन सिद्ध हो चुका है। प्राचलिक उपन्यास सम्भवतः थोड़ा अनुलेख तभी हो सकता है जब उपन्यासकार का आग्रह अचल विशेष की संस्कृति की जानकारी देना मात्र न हो।

प्राचलिकता पर एकान्त आग्रह उसे सांस्कृतिक क्षेत्र में बिलगाव की प्रवृत्ति का रूप दे सकता है, जिस प्रकार प्राचीनता को सकीर्ण मनोवृत्ति ऐकनैतिक क्षेत्र में बिलगाव पदा करती है। इसके प्रतिरिक्त प्राचलिकता भेखक को युग की मुख्य समस्याओं से पराङ्मुख भी कर सकती है क्योंकि स्थानीय रंग वाले सौन्दर्य का मोह प्रकारान्तर से न केवल लेखको को अलग खींच कर लेजाता है, कभी कभी उन्हें बीण-शीर्ण प्रतीत की ओर मोड़ देता है। प्राचलिक उपन्यास में आचारिक सम्पन्नता के अभाव की गुंजाइश रहती है और ऐसी स्थिति में वह प्रबुद्ध पाठक को प्रभावित करने में असमर्थ रहता है।

प्राचलिक उपन्यास में लोक गीतों और लोक कथाओं का मुक्त उपयोग होता है, लेकिन यह प्रयाग जब कृति की आन्तरिक माग पर आधारित नहीं होता तो भेखक इन तत्वों का शोषण ही करता है।

II

हिन्दी में प्राचलिकता शब्द सन् १९५२-५३ के आसपास प्रयुक्त होने लगा। 'मैंना आचल' ने उपन्यास के क्षेत्र में इसे दृढ़ता से प्रतिष्ठित किया। एक साहित्यिक आंदोलन के रूप में प्राचलिकता ने कविता को भी प्रभावित किया और स्थानीय रंगों की अभिव्यक्ति की निरा में अज्ञेय भारती, नरेय मेहता,

१-दृष्टव्य 'मैंना आचल' पर 'कथा के तत्व में देवराज उपाध्याय का लेख

केदारनाथ सिंह जैसे कवियों ने रचनाएँ लिखीं लेकिन कविता में उन्हें उतनी व्यापक प्रतिष्ठा नहीं मिली जितनी उपन्यास में। उपन्यास के क्षेत्र में तो उसमें प्रतिस्पर्धात्मकता का दोष मिलाता है, क्योंकि रुद्र ग्राम कथाएँ भी उसके अन्तर्गत सेली गईं। डा० शिवप्रसाद सिंह के शब्दों में 'क्षेत्र या अक्षय्य उस भौगोलिक खण्ड को कहते हैं जो सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से सुगठित और विशिष्ट एक ऐसी इकाई हो जिसके निवासियों से रहन-सहन, प्रथाएँ चलवादि, मान्यताएँ—आस्थाएँ, मान्यताएँ तथा मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ परस्पर समान और दूसरे क्षेत्र के निवासियों से भिन्न या एकदम अलग प्रतीत हों। इस प्रकार के अक्षय्य या क्षेत्र के जीवन को अभिव्यक्त करने वाली रचना को हम आंचलिक कहते हैं'। इस दृष्टि से ग्राम कथाओं को आंचलिकता के अन्तर्गत नहीं ले सकते जिनकी परम्परा प्रमचन्द से ही चली आती है। हिन्दी के आंचलिक उपन्यासकारों में रेणु नाथानुन भैरवप्रसाद गुप्त, रांगेय राधव, बलभद्र ठाकुर, हिमांशु धीवास्तव, रामदरस मिश्रा, राजेन्द्र धवस्वी, दीनेश मटियानी आदि परिगणित हैं। कहानीकारों में केशवप्रसाद मिश्र, घोषार, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह आदि को भी ले सकते हैं।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में कुछ सामयिक प्रभाव दृष्टिगत होते हैं। जहाँ उनमें कथा-रस का गुण है वहीं कथा-रस के निमित्त अतिरिक्त घटनाओं के समावेश और अत्यधिकता का आयात देने की प्रवृत्ति भी है। 'परती परिक्रमा' में शिवेन्द्र मिश्र और रोजबुद्ध के प्रणय की रोमांचक कथा है 'कब तक पुकारूँ' में इन्द्र गुड के हरण है, 'बूढ़ और समुद्र' में महिपाल की असामान्य मृत्यु का प्रसंग है और हत्ती तरह के अनेक उदाहरण अन्य कृतियों से लिए जा सकते हैं। जहाँ इन उपन्यासों ने बाबनदास बलचनमा महिपाल मुखराम जैसे पात्र लिए हैं वहीं अनेक कृतियों में नायकों को अतिरिक्त गरिमा भी दी गई है। पात्रों के अन्तर्भूत के आभास को कम महत्व मिला है और अधिकतर बाह्य विश्व के संघर्ष में ही उन्हें उपस्थित किया गया है। मैला आंचल 'कब तक पुकारूँ', 'बूढ़ और समुद्र' जैसी अष्ट कृतियों में भी रोमांचक प्रणय का राग प्रबल है रेणु जैसे अष्ट आंचलिक उपन्यासकार ने भी प्रचाररसक दृष्टिकोण के समावेश से 'परती परिक्रमा' को दुबल कृति बना दिया है। पिछड़े हुए क्षेत्रों के बारे में

१-दृष्टव्य रूपना माघ ६५ में डा० शिव प्रसाद सिंह का आंचलिकता और आधुनिक परिवेश पर लेख

लिखने हुए उपन्यासकार उनके सुधार की चिन्ता करने लगता है। इसलिए अनेक प्राचलिक उपन्यासों का भावनावादी और कृत्रिम भवसान मिलते हैं। अनेक प्राचलिक कृतिर्माँ का लोक-संस्कृति के परिचय के लिए ही लिखी गई लगती है, बाहू-दोनों के विश्वास को बनाने के लिए चमत्काराश्रित घटनाएँ तक दी गई हैं।

उपन्यास में हम हमारी जिन्दगी को एक नये ही रूप में पाना चाहते हैं इसलिए जो प्राचलिक उपन्यास लोक संस्कृति की पृष्ठभूमि लेकर भी व्यक्तित्व और मानवीय अभिप्रायों के चित्रण को लक्ष्य बनाते हैं वे ही अच्छे कहे जा सकते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी में उच्चकाटि के प्राचलिक उपन्यास इने-गिने ही हैं, बाकी बहुत सी कृतिर्माँ लोक-संस्कृति की बहुतेरी जानकारी सजोकर भी उपन्यास की दृष्टि से सामान्य हैं। भाषा की दृष्टि से भी हिन्दी के प्राचलिक उपन्यासकारों ने अधिक स्वच्छन्दता से काय लिया है। प्राचलिक उपन्यासकार अपनी प्रकृति से स्थानीय शब्दों को भ्रनाने को बाध्य हैं लेकिन स्थानीय शब्दों के प्रयोगों को लेकर भी उनकी भाषा अपनी पहुँच का बनाए रखे तभी उसकी प्रगता की जा सकेगी। प्रसंग से ही यहाँ हिन्दी के प्राचलिक उपन्यासों की कुछ सीमाओं का संकेत किया गया है। भ्रननेपक्ष पर लिखने का यह भवसर नहीं है। यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कुछ प्राचलिक उपन्यास साहित्य की म्यायी महत्व की कृतिर्माँ हैं।

डा० शिवप्रसाद सिंह भारतीय साहित्य में प्राचलिकता के भ्रान्दीलन को स्वाभाविक नहीं मानने बयोंकि उनके मन से हिन्दुस्तान सांस्कृतिक दृष्टि से एक इकाई है और उसकी राजनीतिक, सामाजिक सांस्कृतिक स्थिति इतनी प्रस्पष्ट सहित या नुप्त नहीं है कि उसे लोक जीवन में लाजा जाए १। उनका यह मत इस मान्यता पर आधारित है कि भ्रमरीकी प्राचलिक साहित्य का उद्भव भ्रमरीको परम्परा को भ्रमसों में खोजने की प्ररणा से ही हुआ। वस्तुतः भ्रमरीकी प्राचलिक साहित्य के प्रतिमानों से हम भ्रमने आलोचनात्मक प्रतिमानों को सम्पन्न तो कर सकते हैं, उन्हें भ्रमने साहित्य के लिए इन्हू लागू नहीं कर सकते। फिर भ्रमरीकी प्राचलिक साहित्य के उद्भव की प्ररणा में केवल परम्परा की खोज ही नहीं है, प्राधुनिक यात्रिक सम्पत्ता में बाहर जा कर मनुष्य की

जीवन-शक्ति की शोष भी है और मनुष्य को मूल जीवन-प्रेरणामों और व्यक्तित्व का सघन भी है। भारतीय सृष्टि की आभारभूत एकता को स्वीकार करके भी लोक-संस्कृति और प्रदेशगत विरोधताओं के बहिष्प को मजबूत नहीं किया जा सकता। आधुनिकता के लिए इसलिए हमारे यहाँ भी पर्याप्त भूमि थी और कहीं भी हो सकती है। उसकी मूल प्रेरणा किमी प्रचल को अपनी पूरी विशिष्टता में कला के माध्यम से चित्रित करने की कामना है। लेकिन उपन्यासकार प्रचल की सृष्टि का आलेखक ही होकर हा नहीं रह सकता। वह व्यापक मानवीय मदर्भ में ही लोक-संस्कृति को चित्रण करता है और ओते-जागते लोगों को उनकी व्यक्तिगत विरोधताओं के साथ अपनाता है। भीड़ के फायकनापों का चित्रण उसका ध्येय नहीं हो सकता। आधुनिक उपन्यास की एक विधा है अपने आगमें उसमें अष्टता नहीं हो सकती। अष्टता का निर्वारण तो उपन्यासकार विरोध की अलागत सिद्धियाँ के आधार पर ही हो सकता है।

जोधराज—कृत 'हम्मीर रामौ

सामान्य परिचय --

हम्मीर रासो ब्रज भाषा का एक काव्य है जिसकी रचना कवि जोधराज ने उन्नीसवीं शती के अन्त में की थी। इसमें रणथाम्बोर के चौहान राजा हम्मीर और मुल्तान अफगानों के युद्ध का वर्णन है। युद्ध का कारण यह था कि हम्मीर ने अफगानों द्वारा निष्काशित किसी सरदार को शरण दी और मुल्तान के बार-बार आगने पर भी अपनी शरणार्थियों के कारण उक्त सरदार को नहीं छोड़ा। इस पर अफगानों ने आक्रमण किया और हम्मीर को अपनी टंक की सजा के लिए जेल-घर-आदि नदी की बलि देने पड़ी। हम्मीर के इस अग्रिम से कई कवियों को साहित्य प्रशसन के लिए प्रेरणा प्राप्त हुई। अन्त में प्रथम को लेकर अन्ततः तथा भाषा में कई काव्य रचनाएँ हुई जिनके नाम ये हैं -- (१) कवि शारंगधर कृत हम्मीर रामौ, (२) जन कवि नयनचन्द्र सूरि कृत हम्मीर महाकाव्य^२ (संस्कृत में) (३) भांडवट ध्यास रचित राय हम्मीर चौगाई^३ (४) अज्ञात कवि रचित वात पातसाह अफगानों से और हम्मीर अडीलारी^४ (राजस्थानी गद्य में) (५) कवि महेश कृत हम्मीर रामौ^५ (६) कवि जोधराज—कृत हम्मीर रामौ, (७) अन्धशेखर बाजसयो रचित हम्मीर कृत। इनमें से कवि शारंगधर—रचित हम्मीर रासो अपने में नही आया है।

१—यह प्रथम याचू श्यामसुंदर द्वारा संपादित होकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

२—इसका एक संस्करण प० नीलकंठ जनार्दन ने स० १८७८ में छपवाया।

३—(क) दिगम्बर तरह पयो शास्त्र भंडार, जयपुर में इसकी एक प्रति गुटका स० १८६२ के अन्तर्गत संगृहीत है।

४—यह राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर के हस्तलिखित 'राजस्थानी वात सप्तह में लिखी हुई है।

५—इसकी एक प्रति स० १८६० की राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर में विद्यमान है जो स० १८६० की प्रतिलिपि है।

इसका उल्लेख प्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "हिन्दी साहित्य का इतिहास" नामक अपने ग्रन्थ में प्रथम किया^१ और इसके एक दो छंद भी उद्धृत किए हैं किन्तु इन छंदों का रचयिता तो कोई 'सञ्जल' नामक व्यक्ति प्रतीत होता है। अतः इन्हें शारंगधर कृत मानने में सँदेह है। मिश्र बंधुओं ने भी अपने "विनोद" में शारंगधर का उल्लेख किया है^२ और उसको कविता के उदाहरण रूप में निम्न दोहा उद्धृत किया है—

मित्र गमन सुपुण्य वचन, कल्पि परे इत बार ।

तिरिया नेम हम्मीर हठ धरे न दूजी बार ॥

किन्तु यह दोहा तो चन्द्रशेखर-रचित हम्मीर हठ नामक काव्य का है। भाषा की दृष्टि से भी यह प्राचीन नहीं प्रतीत होता है। अतः इसे शारंगधर द्वारा रचित नहीं मान सकते।

उपयुक्त ग्रन्थों में से शारंगधर कृत हम्मीर रासो के प्रतिरिक्त शेष ग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हम्मीर का चरित्र समय-समय पर कवियों को प्रेरणा देता रहा और फल-स्वरूप नवीन २ साहित्य रचना होती रही। इन कवियों की तुलना करने से प्रतीत होता है कि हम्मीर रासो के कथानक का क्रमिक विकास होता रहा है जिसमें जोधराज कृत हम्मीर रासो प्रथम और मौनिक रूप में न होकर उस विकास-क्रम की अंतिम से पूर्व की कड़ी है। अतः इसके प्रबन्ध कौशल को समझने के लिए अन्य ग्रन्थों का सापेक्षिक ज्ञान अपेक्षित है।
अन्य-रचयिता और रचना-काव्य —

कवि जोधराज ने अपने ग्रन्थ में जो आत्म-परिचय दिया है उसका सारांश इस प्रकार है। वह अत्रिवंशीय भ्रात्रि गौड़ ब्राह्मण था। स १४४४ क भात पास उसका पूर्वजों के पास एक भ्रात्र "शासण" था, किन्तु जोधराज के समय तब भ्रात्रे-भ्रात्रे इनके अधिकार में कवल एक ग्राम ही रह गया था जिसका नाम विजावर था।

लोग इन्हें 'द्विद्वरिया राव' कहते थे। इनका पिता का नाम बाल-शृण्ण था। वह काश्य शास्त्र के प्रतिरिक्त 'योगि' का बड़ा विद्वान् था। ये भूतपूर्व भलवर राज्यान्तगत निघराणा (वर्तमान मीनराणा) क अधिपति बौद्धान वंशीय

१-रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं० १६८६ संस्करण)

६-मिश्रबन्धु विनोद, भाग १ पृ० २८

महाराज चन्द्रभानु के आश्रित थे जो राज के पानशास्त्र कहलाते थे। इनके पढ़ाई का सम्मान था और उनकी कृपा से इन्होंने धन-धान्य-वरा आदि मन्त्र प्राप्त थे और उन्होंने इन्हें 'अधाचक' नाम दिया था। राजा चन्द्रभानु की प्रशंसा में इन्होंने 'हम्मीर रामी का रचना का वा वि सा १८८५ में समाप्त हुई निम्नका उक्त उन्होंने प्रथम काल में किया। नमः—

वन्द्याय वसुधै कविर्बभूवुव मातरं मातरं ।

शुक्ल सुभक्त्या ज्ञानं तु तस्मिन् प्रथम प्रथमम् ॥

यद्यपि वाचस्पति ने ही मध्यम-महात्मा का १८८५ ब्रह्मण नाम शब्द ७ और ८ दोनों महात्माओं का सुषुप्तज्ञान न ब्रह्म-रचना के लक्षण में दिखाना मन्त्र में है। एक वाचस्पति ने १८८५ में ही 'हम्मीर रामी' के अतिरिक्त कुछ शब्दों में ब्रह्मण नाम का उक्त प्रथम प्रथम है। इन उक्त मन्त्र का अर्थ 'इन्होंने ब्रह्मण नाम का रचना प्रथम प्रथम' है।

- (१) डा० प्रियमन नारायण का ई. स. १३६३ वि० स. १४२० में आवृत्ति माना जाता है^१ ।
- (२) मिश्र बन्धुना नारायण का मन्त्र वि० स. १७७१ ई० के वाच मन्त्र है^२ ।
- (३) वाचस्पतिनामने वाचरान के हम्मीर रामी की रचना वि० स. १७८२ में होता माना है^३ ।
- (४) डा० मोतीलाल मेनारिया न हम्मीर रामी का रचनाकाल वि० स. १७८५ माना है^४ ।
- (५) श्रीवास्तव रामचन्द्र शुक्ल ने हम्मीर रामी का रचनाकाल सन् १८८३ माना है^५ ।

७-डा० प्रियमन हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास (दी मोडन क्लासिकल लिटरचर आफ हिन्दी अनुवाद) प्र० ६५ टि ६
८-मिश्र बन्धु विनायक प्रथम भाग प्र० ११६-१२०

९-जोधराज कृत हम्मीर रामी (वाराणसी प्रचारिणी मन्डल का सम्पन्न) की वाचस्पतिनाम द्वारा लिखित भूमिका प्र १

१०-मोतीलाल मेनारिया राजस्थाना भाग और साहित्य प्र० १८८

११-रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास (१८८६ संस्करण) पृ ३६६

(६) डा० उदयनारायण तिवारी ने हम्मीर रागी का रचना सवत् १८८५ वशाख शुक्ला ३ माना है^{१२} ।

(७) डा० मन्नापसाण गुप्त ने हम्मीर रागी का रचना सवत् १८८५ माना है^{१३} ।

समीक्षा—

हम्मीर रागी के रचना-सवत् के सम्बन्ध में उक्त विभिन्न मता में से डा प्रियमन का मत अमान्य है, क्योंकि विक्रम सं १४४४ में तो चाघराज ने अपने स कोई पीड़ी पत्ते होत धावे पृवता का समय घनाया ह । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा स्वीकृत सवत् म अर्थात् सवत् नही ह । यह रचना संवत् तो नही हो सक्ता किन्तु चाघराज का समय अशक्य है । शय मना क दा वर्ग ह एक रचना संवत् १७८५ मानने वाला का घोर दूसरा संवत् १८८५ वाला का उक्त प्रथम-रचना सम्बन्धी दाहे का 'नाग श' तिवा म्' है । जितना 'ग' का अर्थ प'इ (न+प्रग=नग) म लिया हे व इन मात को वरुग का सूत्र माना है^{१४} घोर जिन्हाने इनका अर्थ सर्प (सर्पों की आङ्गुली) मे लिया हे वे वने आठ की साया का सूत्र मानत है^{१५} । हमारा मत है कि नाग श' पहला के अर्थ म प्रयुक्त शत पर भी आठ की सख्या का वाक्य गता है । भाया घोर सवत् के वाक्य मे वका पुष्टि की जा सकती ह । यथा —

(१) सात समुत् गिर घाठ सामधर मेरु टलनवि ।

(जगा तिनिग वचनिवा राठो वननिमिजो महेप । मानरी छ १३२)

(२) पन्म सठारह गगित प्रग । मेरुिक मान साधर मृत ।।

गिर मेम नउ पल गनेप भा र ग्ग घ ठे सल मनेय ॥

(माननग राम रागी)

(३) हुन निचय गिर घाठ सपत हनिपनन साधर ।

(विमना प्राण कृत खुबरजम प्रकाश छ २५५)

१२-उदयनारायण तिवारी घोर का य प्र० ४३१

१३-भारतीय साहित्य, षष दो अंक ३ जुलाइ १६/७ प्र० ४६

१४-आष्ट दिग्गजानरी प्र० ६१२ टि० ११=नाग ७ की संख्या

१५-हिन्दी शब्द सागर प्र० १७८१ नाग= की संख्या टि० नागों की अङ्गुलि प्रसिद्ध है ।

(४) कुसुम अष्ट अत्रि से । सजीव भोग तद्वि स ।

(कु मकरां वृत्त रतन रामो-महाराजा जसवंतसिंह के हाथियों का वर्णन)

(५) खरतर मन्दीय अत साधु लक्ष्मीवल्लभ ने वि० स १७२७ में ' विष्णुमण्डल्य पंचदश रात ' की रचना की थी । इसकी प्रतिलिपि हिम्मत विनय शिष्ट ने शिष्ट हेत विजय ते मेवाड़ के महाराणा भरिसिंह (राजत्व काल (१८१७-२७) के समय म स० १८२० में की थी । उसके पुष्पिका लेख^{१६} में सवत सूचक निम्न पद प्रयुक्त हुआ है —

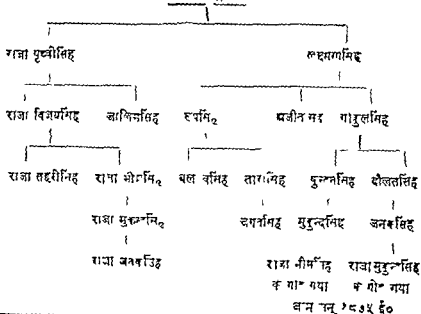
गगन नेत्र पवन चरो-१८२०

अत चन्द्र नाग वसु पद्मिनि स स० १८८५ निकलता है ।

वाक्य साद्यों से भी प्रथम का रचना सवत १८८५ ही उतरता है । इस प्रथम की रचना राजा च भान की प्रेरणा न हुई थी । य नीमराणा क राजा थ । रामपुत्राने क ए० जी० जो० सी० एन० केने महाराय न नीमराणा के राजाओं का जो वंश वृत्त^{१७} लिया ह वह राजा चन्भान से प्रारम्भ होता है ।

दशमूत्त —

राजा चन्द्रभान



१६-मोहनलाल शर्मा पद देनाद चैन गुजेर कविधो भाग २ प्र० २५३ १५
 १७-सी एम उल्ल चीफ्स एण्ड लाइव फमिलीत इन राजपूताना, चतुर्थ संस्करण (१९१ ई०) प० ८०

उनके छोटे उत्तराधिकारी राजा जनक सिंह थे जिनका जन्म होने महाशय ने सन् १८७५ ई० वि० स १९३२ बताया है। यदि प्रत्येक पीढ़ा में बीस वर्षों का अन्तर माना जाय तो राजा चन्द्रमान का समय सन् १८३७ के आस पास ठहरता है। इस निष्कर्ष की पुष्टि नीमराणा के राजकुल के इतिहास में भी हा जाती है। नीमराणा के इतिहास और होने महाशय के बरा-बरा म पूरा साम्य है अतः उनकी प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं है। नीमराणा के इतिहास में राजा चन्द्रमान का समय वि० स० १८१७-८ दिया है। जब महाशय ने नीमराणा का विवरण ई० सन् १८३-वि० स० १८६० से प्रारम्भ किया है और उनी म बरा वृत्त दिया है। बरा बरा राजा चन्द्रमान म प्रारम्भ होता है। अतः निष्कर्ष स० १८६० में राजा चन्द्रमान का विद्यमान होना सद्ध होता है। इन सब का रचना-संबन्ध १७८५ नहीं माना जा सकता।

रचना-संबन्धों का म विधि रर कर मो दिया गया है—यदि मय की रचना वि० स १८८५ के म गुण ३ उद्भवानिकार का म। यानि मगना म यह विधि सही है।

आज साक्ष्यों में भी ग्रंथ की रचना-काल सन् १८८५ होना ही समझ है। अतः यही इसका रचना सन् है।

ग्रंथ का सारांश —

श्रीमान बरा की उक्ति ब्रह्मा से है। कालान्तर म इसी बरा में जमदाग्नि और परशुराम ने जन्म लिया परशुराम अपना क्षत्रिय का महार हाते पर राजसो ने उलाल मचाया। इस पर श्रमिणाने धार पर वर किया जिसे एक

१८-नीमराणा के ठिकाने से प्राप्त राजाओं का वंश क्रम मय उनका राज्यकाल —

राजा चन्द्रमान	राज्य काल	वि स	१८०७-१८८०
राजा प्रवासिंह			१८८०-१८९९
राजा विजयसिंह			१८९९-१९१३
४-राजा ईश्वरसिंह			१९१३-१९२५
५-राजा भामसिंह			१९२५-१९३५
६-राजा सुशुन्दसिंह			१९३५-१९४२
७-राजा जनकसिंह			१९४२-१९८९

मयोनित्र पुरुष का जन्म हुआ। उसकी चार भुजाएँ थीं। इसीलिए उसका नाम चौहान रखा। इसी से इस वंश का नाम चौहान पड़ा।

इसी वंश में अतराव हुए बिन्होंने पद्म ऋषि के शिष्य से वि० सं० २२२० वैशाख शुक्ला ३ शनिवार को रणथंभोर के दुर्ग का निर्माण कराया।

पद्म ऋषि के तप से मय-भीत होकर इन्द्र ने काम-देव तथा उवशी द्वारा सनकी तपश्चर्या भंग कराई। कुछ समय के पश्चात् उवशी के चले जाने पर ऋषि को पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने अपने शरीर के पाँच टुकड़े कर उन्हें अग्नि में होम किया।

एक बार हम्मोर ने अपने दुर्ग में बिजबला नामक पातुरी का नृत्य आयोजित किया। बिजबला नृत्य करती थीर प्रत्येक ताप पर बाग्शाह की ओर देख कर पश्चात्ताप करती जाती। बाग्शाह इससे अपना अपमान समझ कुछ कुछ हुआ। महिमाशाह के माई मीर गमरु ने बाग्शाह की इच्छा जानकर तीर संधान कर उस पातुरी का चरण विद्ध कर डाला। इससे हम्मोर भयभीत हुआ। तब महिमाशाह ने तीर संधान कर बादशाह के धन उड़ा लिए। बादशाह भयभीत होकर दिल्ली की ओर लौटा। इसने में हम्मोर के कृतघ्न कोणाध्यक्ष सुरजनसाह ने बादशाह को दुर्ग का भेज बताने दिया और हम्मोर को दुर्ग के धन-धान्य भण्डार के खानों को जाने की सूचना दी। हम्मोर ने निराश होकर अन्तिम युद्ध छेड़ दिया। उसकी रानी ने बोहर करने का निश्चय किया किन्तु हम्मोर ने युद्ध का परिणाम निकलने तक प्रतीक्षा करने के लिए कहा। हम्मोर दुर्ग से निकलने के पूर्व अपने पुत्र "रतन" को बिचौड़ी सुरन्धित भेज दिया। तदन्तर युद्ध हुआ जिसमें बाग्शाह पराजित होकर दिल्ली लौटा। राजपूतों ने उसके भन्ने और निशान छीन लिए और बिजयोन्माद में उन्हें उड़ाते हुए दुर्ग की ओर चले। रानी ने इसे अपनी पराजय समझ कर बोहर कर लिया। जब हम्मोर दुर्ग में पहुँचा तो उसे बहुत पश्चात्ताप हुआ। वह शिव मन्दिर में पहुँचा और अपना मस्तक का शिव के चरणों में चढ़ा दिया। इस घटना के पूर्व भन्लाउद्दीन भी उसने पास जा पहुँचा और अपने लिए हम्मोर से विधान पूछा। हम्मोर ने उसको समुद्र में डूब कर उसने स्वर्ग में मिलने के लिए कहा। इसपर भन्लाउद्दीन दिल्ली गया और अपना राज्य साहजादा के देकर रामेश्वर में शिव का पूजन कर समुद्र में कूद पड़ा और स्वर्ग में जा पहुँचा, जहाँ उवशी, बादशाह हम्मोर महिमाशाह और गमरु पाँचों पुत्र मिल गये।

हम्मीर रासौ की ऐतिहासिक अलोचना—

हम्मीर रासौ का कथानक ऊपर दिया जा चुका है उससे विदित होता है कि उसमें कई अद्भुत तथा धर्मतिहासिक तत्व हैं जो नायक के चरित्र को मले ही उल्लेखता प्रदान करते हैं किन्तु उनकी वास्तविकता पर विश्वास नहीं किया जा सकता उसमें भाये हुए अद्भुत तत्व निम्न है—(१) पद्म ऋषि के शरीर के भिन्न-भिन्न भागों से अल्लाउद्दीन हम्मीर, महिमाशाह, गमरू और रूप विचित्र का जन्म होना (२) अल्लाउद्दीन का समुद्र में डूब कर स्वर्ग में हम्मीर, महिमा, गमरू, रूप विचित्रा आदि में विभक्त जाना (३) हम्मीर तथा अल्लाउद्दीन की सहायता के लिए देवताओं तथा पैगम्बरों का युद्ध में सम्मिलित होना । कुछ प्रसंग ऐसे हैं जो केवल अत्युक्तिपूर्ण हैं । उनकी वास्तविकता में भी विश्वास नहीं किया जा सकता । वे प्रसंग निम्न हैं —

(१) पद्म ऋषि और उर्वशी—प्रसंग (२) कामार्त्त वेगम के प्रसंग के अन्तर्गत अल्लाउद्दीन का वृद्ध से भयभीत होना । यह प्रसंग मले ही अल्लाउद्दीन को निर्भीक सिद्ध कर दे तथापि उसकी संभावना में विश्वास नहीं हो सकता । (३) अल्लाउद्दीन का हम्मीर से परामर्श लेना और रामेश्वर की पूजा करना । यवन द्वारा हिन्दू देवताओं की पूजा सम्भव नहीं है ।

उनके प्रतिरिक्त कुछ प्रसंग पूर्ण धर्मतिहासिक—(१) हम्मीर और अल्लाउद्दीन का सन् ११४१ में जन्म लेना और अल्लाउद्दीन का गजनी के गौरी बादशाह (सहायुद्दीन) के घर जन्म होना । इतिहास से पता होता है कि अल्लाउद्दीन का शासनकाल ई० स० १२६६-१२९६ = वि० स० १३५३-१३७३ था और रणयभोर का युद्ध वि० स० १३६० में हुआ । अतः यह घटना नितांत अतिशयिक है । (२) अल्लाउद्दीन के समय में चित्तौड़ में रत्नविह राज्य करता था । वह गुहिलोत्त या चौहान नहीं । पद्मिनी के लिए उसका अल्लाउद्दीन के साथ युद्ध हुआ था । अतः उस समय चित्तौड़ में चौहान-राज्य हम्मीर के पुत्र 'रत्न' का राज्य होना इतिहास विरुद्ध है ।

किन्तु एक बात प्रसंग है । हम्मीर रासौ में जो त्रिविधा गी हुई है वे ज्योतिष गणना से पूर्ण नहीं हैं । इससे यह निष्कर्ष कभी नहीं निकालना चाहिए कि उक्त रासौ की घटनाएँ सही हैं । त्रिविधों के सही होने का कारण यह है कि जो पराजित ज्योतिष का पूर्ण ज्ञान या अभिज्ञान उ लेख ऊपर हो चुका है । अतः जो त्रिविधों उसने दी है उनमें से रचना त्रिविध के प्रतिरिक्त रोग सभी ज्योतिष की दृष्टि से पूर्ण

सही होती हुई भी इतिहास की दृष्टि से अग्रप्राय और कल्पित है। वे तिथियाँ निम्न हैं—

- (१) रणथंभौर क दुर्ग की स्थापना—संवत् १११० वैशाख शुक्ला ३
शनिवार भाद्रपद, ज्योतिष गणना से यह तिथि पूर्ण सही है^{१६} ।
- (२) पद्म ऋषि का शरीर त्याग—वि० सं० ११४० माघ शुक्ला १२
शुक्रवार धार्ग नक्षत्र ज्योतिष गणना से यह तिथि पूर्ण सही है^{१७} ।
- (३) हम्मीर का अम—वि० सं० ११४१ शके १००६ कार्तिक शुक्ला १२
रविवार, उत्तर भाद्रपद नक्षत्र ज्योतिष गणना से यह तिथि पूर्ण
सही है^{१८} ।
- (४) अम की रचना—वि० सं० १८८५ वैशाख शुक्ला ३ वृहस्पतिवार
ज्योतिष गणना से यह तिथि सही हो सकती है^{१९} ।

हम्मीर रासो का प्रबंध—कौराज —

उपर उल्लेख किया जा चुका है कि हम्मीर देव के चरित्र को लेकर कई काव्य रचनाएँ हुई हैं। उनकी परस्पर तुलना करने से पात जाता है कि हम्मीर देव की कथा अत्यन्त रित होती चली आ रही है और जोषराज के हम्मीर रासो का कथानक अन्तिम अत्यन्त से पूर्ण का है। अतः उस पर पूर्ववर्ती प्रबंधों का बहुत प्रभाव है। उसके प्रबंध में नवीनता एक मौलिकता का प्रभाव है। अतः इसके प्रबंध कौराज को जानने के लिए उसके प्रबंधों का स्वरूप देना आवश्यक हो जाता है। काल अम के अनुसार वे निम्न हैं—

- (१) नवनक्षत्र सूरिजन हम्मीर महाकाव्य (२० का० वि० सं० १४६०)
- (२) भादक वास रचित राम हम्मीर^{२०}क (२० का० वि० सं० १४३८) (३)
अज्ञात कवि रचित वास पातसाह अनाददीन अर हम्मीर हरीना से २० का सत्रहवीं
शताब्दी अनुमानित ।

१६ एस के पिन्नाई इंडियन एथिग्रेरीज खण्ड ३ पृ० १०८

२०—घड़ी ' खण्ड ३ पृ० १७०

२१—घड़ी " " खण्ड ३ पृ० १७०

२—मैंने इस तिथि की परीक्षा दो ज्योतिषियों से प्रत्येक प्रत्येक कराई और दोनों का फलाने एक सा पाया इससे इससे सही होने की सम्भावना है।

२२ क—इसका रचना काल वि० सं० ११३८ काती सुदि ७ सोमवार है। यथा पकरह सद अठतीसह सही। काती सुदी मानसि सोम ने कही (पद ३२५)

वांरु नामक दो व्यक्तियों को हमें संपदे और बहुत से हाथिया सहित मानरव (मांडवर्ड) उर्जन और सलक्षपाद (सीमर) को राखे हमें दे दे तो युद्ध टल सकता है । हमीर ने चारों पाते मस्वीकार की । तब भीषण युद्ध हुआ जो बारह वर्ष पर्यंत चलता रहा । अन्त में बादशाह ने युक्ति से काम लेना चाहा ।

उसने हमीर के मंत्री रणमल को लालच देकर अपने अनुकूल बना लिया । रणमल ने हमीर का घन भण्डार लूट कर दिया । इसने हमीर बिजय की आशा छोड़ कर अन्तिम युद्ध के लिए तैयार हो गया । दोनों शरणागत मुसलमानों ने उस बहुत बना किया कि उनके लिए इतना बिनाश नहीं किया जाय किन्तु हमीरदेव अपनी शरणागत प्रतिपालक की टेक पर अटल रहे और बहुत सी सामग्री नष्ट कर चुने हुए योद्धाओं तथा दोनों शरणागत मुसलमानों को साथ लेकर युद्ध में बूढ़ पड़े और बीर गति को प्राप्त हुए ।

बादशाह ने स्वामी द्रोही रणमल से पूछा कि हमीर की माय कौन सी है । उसने परि से संकेत कर लाश बतलाई । यह बात हमीर के भल नामक भाट को बहुत अच्छी । उसने बादशाह को प्रसन्न कर रणमल को मरवा दिया । भय यही समाप्त हो जाता है । कवि ने इसे "हमीरावण" नाम भी दिया है । यथा रामायण महाभारत अमर हमीरावण निरुत ।

(३) घात पातराह अलतद्दीन री अर हमीर इटिला री —

एक बार अलतद्दीन, बादशाह ने कबहार छोड़ अड़क पर आक्रमण किया । उसकी पीछ में मामुला और उडुलसी नामक दो सैनिक थे । एक दिन बादशाह और हूरम सोये हुए थे । उनका शिविर नदी के तट पर था । रात्रि में मेंढक की टर्र-टर्र से बेगम को नींद नहीं आ रही थी । वह बादशाह के सम्मुख अपनी पीठ प्रकट करने लगी । पहरे पर मामुला था । वह शब्द धेपी था । उसने तीर संधान कर मेंढक को मार डाला । मेंढक की टेर बंद होने से बेगम को नींद आ आण । उसने दूसरे दिन मामुला को बादशाह से पुरस्कार मिलवाया इसके उपमदय में मामुला ने उन्मव किया । दूसरे दिन बेगम ने बादशाह से मामुला के हाथ कटवाने के लिए कहा क्योंकि ऐमे शब्दधेपी से बादशाह की आन को खतरा था । उस दिन उडुलसिह पहरे पर था उसने यह बात सुन ली और मामुला को सचेत कर दिया । मामुला प्राण शक्ति की आशंका से भाग निकला । इस पर बादशाह ने उडुलसिह को फाँस कर आलियर के दुर्ग में रख दिया

मातृका भाग कर हम्मीर के पास चला गया। बादशाह ने हम्मीर से अपने अपराधी को मांगा। किन्तु शरणागत की रक्षा को टेक से हम्मीर ने उसे नहीं लौटाया। इस पर बादशाह ने आक्रमण कर दिया। आगे का प्रसंग यही है। यहाँ पातुरी का नाम गुणरूप है और उसे विद्वह करने के लिए सद्गुणसी खालिपर से बुलाया जाया है। भयकर युद्ध होता है जिसमें हम्मीर मारा जाता है और बादशाह रणभम्मीर का राज्य अपने लड़के को दे देता है।

हम्मीर दृष्ट बाल की रचना है अतः उसके साथ तुलना करने की आवश्यकता नहीं। उसकी रचना पटिगाला नरेण कर्मीसह के पास सुवर्चित "हम्मीर दृष्ट" की चित्रावली के अनुसार हुई है जिसमें अन्लाउद्दीन के समुद्र में वृद्धने की घटना को छोड़ कर शेष समस्त कथा जोवरण के हम्मीर रासी से मिलती है।

आलोचना—

सब कथानकों पर एक साथ विचार करने से पता लगता है कि इस कथा के दो भाग हैं—(१) आक्रमण के कारण (२) रणभम्मीर का युद्ध। दूसरा प्रसंग प्रायः सभी कथानकों में एकसा है। उसमें पातुरी उसके प्रहारी तथा देश-द्रोही व्यक्तियों के नामों का अन्तर है। प्रथम प्रसंग की कथा सभी में भिन्न-भिन्न है। हम्मीर महाकाव्य में आक्रमण का कारण पूणत राजनीतिक है। उसमें बादशाह का कोई अपराधी हम्मीर के पास नहीं जाता है। बादशाह हम्मीर को बैभव को सहन नहीं कर सकता और हम्मीर के दरबार-में मंगल सरदार भी रहते थे। उसके आक्रमण का यही कारण है। राम हम्मीर बीरार्ई में बादशाह के दो अपराधी पञ्चन हम्मीर की शरण में पहुँचते हैं और यही युद्ध का कारण बनता है। इस भिन्नता को छोड़ कर यह हम्मीर महाकाव्य के अधिक निकट है। दोनों काव्यों में हम्मीर के पिता अन्लाउद्दीन के सेनापति और हम्मीर के देश-द्रोही प्रादि व्यक्तियों के नामों में ही भिन्नता नहीं है अतः दोनों में युद्ध टानने के लिए हम्मीर की पुत्री के साथ विवाद करने की भी शर्त है। शर्त के पूर्वादर्श की घटना कल्पित है। उसमें हम्मीर महाकाव्य के महिमाशाह और उद्दनासह के नाम मिलते हैं। इसमें मातृका के रूप में बादशाह का अपराधी प्रादुर्भूत होता है। किन्तु इसके साथ कोई धरलील प्रसंग नहीं जुड़ा हुआ है। महेश और जोषराज में यह प्रसंग पूर्णतः धरनाल हो गया है। वालो का मातृका दोनों रासी का महिमाशाह और उद्दनासह गमक है। इन दोनों में आक्रमण का कारण राजनीतिक न हो कर व्यक्तिगत है। महिमाशाह अन्लाउद्दीन का व्यक्ति

एक प्रपराधी है, बान्साह मन्नाउद्दीन का नहीं। इस परलील प्रसंग को उद्भावना का श्रेय महेश को है। उसी का अनुकरण जोधराज ने किया है। युद्ध के अन्त में भी भिन्नता है। हमीर महाकाव्य, हमीर चौपाई और वार्ता में युद्ध का अन्त स्वामाविक है किन्तु महेश और जोधराज के काव्यों में यह अद्भुत अंश से समन्वित है जो अस्वामाविक एवं कल्पित है।

उपयुक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि हमीर की कथा मयनचन्द्र सूरि के बाद में वास्तविकता के स्थान पर काल्पनिकता का रूप धारण करने लगी और उत्तरोत्तर कल्पना को अधिक प्रथम मिलने लगा। कवि महेश तक पहुँचते-पहुँचते उसमें परलीलता का समावेश भी हो गया। उसमें अद्भुत और काल्पनिक प्रसंग इतने बढ़ गये हैं कि मन्नाउद्दीन, हमीर, लिन्ही, रणबन्धोर आदि नामों के प्रति रिक्त उसमें कोई ऐतिहासिकता नहीं रही है। उसी की कथा का काव्य-रूप जोधराज की कथा में है। यदि हम कथा का प्रारम्भ हमीर महाकाव्य है तो अन्त महेश और जोधराज की कथा है। वार्ता इन दोनों के बीच की प्रयत्ना है जिसमें कल्पना प्रथम पाने लग गई किन्तु अभी उसका रूप शिष्ट है।

भाषा, छंद, अलंकार और रस —

भाषा—वचनिका को छोड़ शेष अंश की रचना अत्र भाषा में हुई है। वचनिका में राजस्थानी भाषा का पुट है जिसका कारण सम्भवतः यह है कि वचनिका का प्रचलन राजस्थानी में ही था। कुछ विभक्ति विन्हीं में भी राजस्थानी का प्रभाव पाया जाता है। जैसे तणो, तणी, तनु आदि। युद्ध प्रसंगों में शोक की प्रधानता है, शृंगार में भाषा का प्रसाद तथा माधुर्य गुण पाया जाता है। युद्ध प्रसंगों में भी शब्दों की वह कलाबाजी तद्गत, खड्गामड नहीं आई है जो अन्य काव्यों में पाई जाती है।

छंद—इसमें नौ सौ अक्षर छंद हैं जिनमें निम्न प्रयुक्त हुए हैं—गेहा, छप्पय, पदधरी, मुक्तादाम नाराव (लघु और वृद्ध) चौपाई, मुजंग-प्रयात त्रोटक, सोरठा, कवित्त, विप्रकसरी, हनुफाल, त्रिभंगी रसावला और वचनिका। अन्य रासौ काव्यों की भांति इसमें भी वार्षिक छंद कहीं-कहीं मात्रिक छंदों की भांति प्रयुक्त हुए हैं जिनमें दीर्घ वर्ण के स्थान में दो लघु वर्ण तथा दो लघु वर्णों के स्थान पर एक दीर्घ वर्ण प्रयुक्त हुआ है।

अलंकार—हमीर रासौ में मुग-धारा की भांति अलंकारों के लिए 'कोई आग्रह

वहाँ पाया जाता है। यहाँ के भीतर जो अलंकार स्थायी रूप से धाँपे हैं उनका प्रयोग हुआ गया है। उन्हें लाने के लिये कवि का कोई प्रयत्न नहीं है। इसमें एक ही उपमेय के लिए अनेक उपमानों की बहु ऋद्धि नहीं पाई जाती है वैसे हम अन्य काव्यों में दिखा चुके हैं।

रस—हम्मौर गली में रासी काव्यों की परम्परा के अनुसार शृंगार और वीर दोनों रस स्वतन्त्र रूप में पाये जाते हैं। शृंगार के दो स्वतन्त्र स्थान हैं—
(१) पद्म श्रुति एक वर्णों प्रसंग (२) वेगम और महिमाशाह का रत्नजलि प्रसंग। प्रथम प्रसंग में श्रुति की उपधर्मा भंग करने के लिए प्राकृतिक उद्दीपना की योजना की गई है। उद्दीपनों का प्राकृत्य संयम की कठोरता के अनुरूप है। इसमें काव्य का स्वरूप अच्छा प्रकट हुआ है। वेगम और महिमाशाह का रति प्रसंग विर प्रतीकित अत्रयों का परिणाम नहीं है। अत्र अत्र कोई प्रयत्न-विस्तार नहीं है। वह काव्यावित रूप में प्रस्तुत न हो कर शृंगारिक बन गया है जिसमें "रति" भाव के स्थान में विलास है। पालुरी नाव और अक्षरा प्रसंग परम्परा भुक्त है।

उत्पुक्त प्रसंगों का छोड़ कर काव्य में वीर रस की प्रधानता है जिसमें अस्लाहदीन आलन और हम्मौर आगम्य है। विभिन्न युद्ध यात्राएँ अनुभावान्तगत हैं। वीर का स्थायी भाव उत्साह आशापान्त बना रहता है। विविध युद्ध सामग्री उद्दीपन के अन्तर्गत आती है। परिपानी के अनुसार वीर के साथ रीढ़ भवानक, धीमत्स, अद्भुत का समावेश हुआ है। इसकी रस योजना परम्परा भुक्त है। वह सैन्य प्रमाण से आरम्भ होकर अद्भुत में समाप्त होती है।
कविता का स्वरूप—

मेना-श्याण-छंद मुद्रणी

बड़े साहि कोये सुदग्ने निष्ठा । बड़े मीर गंभीर सधर्ष मुज्जा ॥

उठी रेण आकाम मुग्धै न मान । धरा मेरु दुर्लभै मु मुग्धै दिशान ॥

सहे मेव मार न पार न पाव । इगे कोल निगाज आगी मुग्धै ॥

पनो छुडि बला समुद्र उमंडे । किये हैदर पैदल रण्य मुठ ॥

युद्ध-वर्णन—छंद रसावली (दो यण)

भमकेत बान । उर सावि ज्वार ॥

सग तेप सीस । उरै फाक दीस ॥

लगे जम्म दड्ड । कर पान गड्ड ॥
 परी सुरिथ जुत्थ । करी जो भक्त्य ॥
 कयी जूद लोट्ट । पवै जानि कोट्ट ॥
 तुरगं धरन्नी । मुलुड्डै वरन्नी ॥
 मपे हड वीर । धरन्नी सरौर ॥
 मिर हक्क मारे । धर भत्र धार ॥
 उग्गभत्त धत । मनो प्राद तत ॥
 गडै भन्त चित्ती । भनास समिल्ली ॥
 मनो बाल मडी । उडवत गुडडी ॥
 सडे श्रोण छिद्य । फुवारै सु भन्द्य ॥
 बहै श्रोण नदद । मनो नीर भदद ॥
 कर पग्य हृष्य । तरन्नुन मत्य ॥
 पलकुडी चमङ्गी । उडे वीर नच्ची ॥
 कियो भट्टहास । सु बाली प्रनास ॥
 जहाँ क्षेत्र पाल । गुडै समु माल ॥
 भवै गिद्य बोटी । फर तापु फोटी ॥
 यटं सहस्र सूर । धरे जाप हूर ॥

लोकगाथा-तात्विक विवेचन

मात्राभिन्न व्यक्ति मानव का स्वभाव है। अभिव्यक्ति की यह आकांक्षा उतनी ही प्राचीन है जितना मनुष्य स्वयं। मनुष्य जैसे जैसे सम्य होता गया और होता जा रहा है अभिव्यक्ति की दिशाओं में भी परिवर्तन होता जा रहा है। अस्तु, जो भी हो मनुष्य के अचेतन में अभी भी लोक-मानसोद्य प्रयुक्तिया अभी शेष हैं। यद्यपि मानव इन प्रादिम भावनाओं को सम्यता के आवरण में आवेष्टित रखकर स्वयं को प्रादिम मनुष्य से एकदम भिन्न करके देखना चाहता है, तथापि ये भावनाएँ उसके मानस में प्रादिम दाय के रूप में उपस्थित हैं और समय २ पर प्रकट होती रहती हैं। यह उस मानव समुदाय की बात है जो नागरिक सम्यता से परिचित है या जो सम्य कहलाता है, पर इस मानव-समुदाय के अतिरिक्त भी एक और वृद्धतर है जो आधुनिक सम्यता से दूर है, जिसमें सांस्कृतिक चेतना का अह बागरित नहीं है, पांडित्य प्रदर्शन की भावना नहीं है। इसी समुदाय को लोक साहित्य के अध्येताओं ने 'लोक' संज्ञा से अभिहित किया है और इसी लोक की अभिव्यक्ति को लोक साहित्य कहा है।

लोक साहित्य का यह प्रवाह बणमाला के अक्षरों से भी प्राचीन सरिता के वेग की भांति अदम्य और निरन्तर है^१। 'लोके वेदेच'^२ श्लोक में वेद के पूज्य लोक की स्थिति स्वीकार कर आम्भगवद्गीताकार ने लोक विचारों की परम्परा की प्राचीनता को महत्त्व दिया है। लोक साहित्य की शृंखला भुत्त रहती है। इसमें लोक प्रयुक्तियाँ निहित होती हैं। यही कारण है कि लोक साहित्य के दर्पण में लोक का नैसर्गिक दर्शन सुगम रहता है। अधुनातम रूप में इसका अध्ययन यद्यपि १९वीं शताब्दी की देन है पर इसमें उसकी अनादिता पर प्रश्न बिन्दु नहीं लग सकता

१- अथ लोक साहित्य का अध्ययन प्र० ३ डॉ० सत्येन्द्र।

२- लोक साहित्य की भूमिका [भूमिका भाग डॉ० धीरे द्रवमों]।

३- गीता अध्याय १५, श्लोक १८।

भाज तो युग ही लोकनृत्य का है। यदि आज के लोकतांत्रिक भारत में लोक-संस्कृति और लोक साहित्य का सम्मान हो तो भारतरत्न भी क्या है। क्योंकि इसी में हमारे राष्ट्र के प्राण निहित हैं।

लोक-अभिव्यक्ति की अनेक विशाएँ हैं, परन्तु स्पष्ट रूप में इन्हें नागर साहित्य की ही भाँति दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, अथवा तथा दृश्य। लोक गीत एवं लोक प्रबन्ध, घट्टक काव्य के अन्तर्गत हैं और दृश्य में लोक नाटक का विधान है। इसके अतिरिक्त लोकोक्ति मुहावरे आदि भी अभिव्यक्ति के सरलतम माध्यम हैं। इनमें लोक प्रबन्ध एक ऐसा रूप है जिसमें खाति और समाज पूर्ण रूप में प्रकट होता है। इसमें लोक भावना का निर्वाह भी मलीभाति होता है। लोक प्रबन्ध में एक विशाल क्या हाती है जो संगीत के माध्यम से प्रकट होती है। विद्वानों ने लोक प्रबन्ध को निम्नलिखित नामों से अभिहित किया है—

(क) गीत-कथा^१

(ख) प्रबन्ध गीत^२

(ग) लोक गायन^३

यद्यपि 'गीत-कथा' में कथा और गेयता दोनों ही तत्त्व स्पष्ट हैं, पर नाम गायन के सिद्ध उपयुक्त नहीं है। इससे लोक गायन की भाँति अभिव्यक्ति नहीं होती क्योंकि प्राथमिक साहित्य में अनेक गीत ऐसे उपलब्ध होते हैं जिनमें लघु कथा होती है। इसके अतिरिक्त 'गीत' नाम, स्वर-रूप समन्वित ऐसी लघु रचना के लिए रूढ़ हो गया है जिसमें आत्मपरकता होती है, कोई धनीमूढ भावना होती है। अतः 'गीत' और 'कथा' से दो मिन्नायों की व्यञ्जना होती है। गीत, वहाँ आत्म परक होती है, कथा बाह्यपरक लोक साहित्य के जिस अंग को 'गीत-कथा' कहा गया है उसमें एक विशाल कथा होती है जिसे गायक ताल और लय में गाता है। अतः ऐसे विशाल कथानक को गीत-कथा नाम देना, हमारे दृष्टिकोण से अनुपयुक्त ही नहीं असोत्प्राप्त भी हो सकता है।

पुनः इसी को 'प्रबन्ध गीत' नाम भी दिया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह नाम गीत-कथा नाम से अधिक सार्थक है। इसमें कथा की विशालता और

१- राजस्थानी लोक गीत, पृ० ७८, ले० सूर्यकरणी पारीक।

२- मज लोक साहित्य का अध्ययन पृ० ३४४, ले० डॉ० सत्येन्द्र।

३- लोक साहित्य की भूमिका पृ० ३६, लेखक डॉ० कृ० दे० उपाध्याय।

मेयता की ओर सकेत है, पर लाक साहित्य की इस भाष्यान मूलक गय विद्या में जो बर्णन बहुल लाक मानसीय प्रवृत्तियाँ होती हैं उनका प्रतिनिधित्व प्रबन्ध गीत नाम से नहीं होता। साथ ही 'प्रबन्ध गीत' कहने से आभिजात्य प्रबन्ध काव्य का भ्रम होना भी स्वाभाविक है, क्योंकि प्रबन्ध काव्य शब्द रूढ़ हो गया है, अतएव प्रबन्ध गीत कहने से गायका का मान तब तक नहीं हो सकता जब तक इसे और स्पष्ट न किया जाय। अतएव इसके लिये कोई ऐसा नाम होना चाहिए जो इसमें निहित भावना को ठीक ठीक अभिव्यक्त कर सके। अब 'लोक-गाथा' नाम को भी इसी सदर्भ में परखना चाहिये।

'लोक-गाथा शब्द' की उपयुक्तता एक प्राच्य नता— लोक-गाथा में 'लोक' शब्द गाथा के स्वचिन्ता और श्रोता का सूचक है। 'लोक' शब्द के अर्थ में व्यक्तिभाव, समष्टिभाव में विलीन हो जाता है, अतएव लोक के साथ 'गाथा' शब्द एक विरोध अभिप्राय को लेकर प्रयुक्त होगा है। सस्कृत में 'गाथ' शब्द मिलता है। 'गाथा' शब्द को 'गाथ' से सम्बन्धित कर कोशकार ने इसे 'नै धातु से व्युत्पन्न माना है'। 'नै' का अभिप्राय है गाना। इस प्रकार गाथा का अर्थ गीत हो सकता है। गीत अर्थ में गाथा का प्रयोग सबसे प्रथम संसार के सबसे प्राचीन लिखित साहित्य ऋग्वेद^१ में मिलता है। वहाँ इसका अर्थ पद्य अथवा गीत है। गाथा शब्द से पूर्व भी लोक में विद्यमान थी और उसी से प्रेरणा लेकर अर्थात् 'लोक' से प्रेरणा लेकर वेद ने अपनी वाणी को संबोधा है। मैत्रायणि सूत्र में भी गाथा शब्द गीत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है^२। इस प्रकार यह सिद्ध है कि पद्य बद्ध कथा के लिये 'गाथा' शब्द का प्रयोग अत्यंत प्राचीन है। गाथा शब्द की प्राचीनता पर विचार करने से यह सिद्ध होता है कि गाथा का जो अर्थ ऋग्वेद से लेकर शतरण एतरेम आदि ब्राह्मणों में होता हुआ रामायण-महाभारत आदि में रहता है वही अर्थ चलकर आठक कथाओं में भी सुरक्षित है। पालि भाषा में 'गाथा' आठक कथा

१- दी प्रोक्टीकृत संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी पृ० ४६६।

२- तं गाथया पुराण्या पुनानभ्यनूपत।

उतो कृपन् धोतयो देवाना नाम बिभ्रती - ऋग्वेद ६।६६।४।

३- मैत्रायणि संहिता ३।७। ३ पारस्कर गृह्य सूत्र काठ १ खंडिका ७।

अथवालायन गृह्य सूत्र १।१३।

'अथ गाथा गायति'

का प्रमुख ग्रंथ है। वह कोई कथा नहीं, प्रस्तुत कथा गमित पद्य है जो ज्ञातक कथा का आधार बनता है।

गाथा सप्तशती तक माते माते 'गाथा' ने अपने कथार्थ का विसर्जन कर ध्वंशार्थ ग्रहण कर लिया और प्राचीन हिन्दी काव्य में ही नहीं बल्कि मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भी 'गाथा' छन्द का प्रयोग होता रहा। ब्रज भाषा लोक काव्य में 'गाथा' का पर्याय 'गाही' भी प्रयुक्त हुआ जो फिर अपने मौखिक अर्थ गीत का समकक्ष हो गया। हिन्दी में गाथा शब्द का प्रयोग 'कथा' के अर्थ में भी हुआ है। वीर गाथा शब्द जिसको श्री रामचन्द्र शुक्ल भाषि ने अपने इतिहास में बहुत महत्व दिया है उन कथामों का स्रोत करता है जो पद्य बद्ध रही हैं और जिनका स्वरूप लोक काव्य रहा है। लोक काव्य की एक विशेषता यह रही है कि घट वस्तु परक होते हुए भी गेयता के आसन पर अधिष्ठित रहा है।

आज हिन्दी की लोक गाथा, परम्परागत 'गाथा' शब्द से जिस अर्थ में मिलती है, वह है कथा की प्रबन्धात्मकता, क्योंकि वैदिक काल से लेकर पारश्वक, उपनिषद् आक्षेप, पुराण, प्राकृत रचनाओं, गाथा सप्तशती भाषि में अहाँ-अहाँ गाथा शब्द प्रयुक्त हुआ वहाँ गेयता और सज्जित कथानक का ही स्रोतक है। आधुनिक 'गाथा' की भाँति प्रबन्धात्मकता की प्रवृत्ति वहाँ नहीं है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक 'गाथा' शब्द में विशालता, गेयता तथा कथात्मकता इन तीन तत्वों की विवेकी आवश्यक है। इस गाथा में लोक विशेषण लगने से ऐसी गाथा का मान होता है जिसमें लोक मानसीय तत्व हों। अतः लोक गाथा शब्द लोक साहित्य की इस आस्थान मूलक गद्य विद्या का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है और इसी कारण हम लोक प्रबंध के अर्थ नामों से सहमत न होकर 'लोक गाथा' नाम ही उचित मानते हैं।

लोक गाथा विद्या के लिये कुछ बोलियों में अर्थ नाम भी मिलते हैं। एक है पवाड़ा। यह नाम राजस्थानी गुजराती, मराठी, ब्रज तथा बिहार में प्रचलित है। हिन्दी में इसका प्रचार नहीं है। साथ ही राजस्थान तथा अन्य स्थान के कुछ गेय आस्थानों के साथ पवाड़ा जुड़ता है कुछ के साथ नहीं। जैसे राजस्थान में 'पावुजी के पवाड़े 'निहालदे के पवाड़े' प्रसिद्ध हैं पर गोगाजी, बगड़ावत भाषि के साथ 'पवाड़े' नहीं जुड़ता। इसका अर्थ यह हुआ कि पवाड़े शब्द का प्रयोग विशिष्ट गद्य कथानकों के साथ ही होता है। संभवतः वीर कथात्मक गेय आस्थानों

के साथ ही । किन्तु 'लोक कथा' के अन्तर्गत सभी प्रकार गेय, विद्याल आस्थाना का भासा पूर्ण सुरक्षित है ।

लोक गाथा की उत्पत्ति —

लोक गाथाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं । आन्तक में इन सिद्धान्तों को लोक गाथा की रचना प्रक्रिया के सिद्धान्त कहना चाहिये, न कि उत्पत्ति के सिद्धान्त । कुछ विद्वान लोक गाथा का रचयिता समुदाय का मानते हैं और कुछ व्यक्ति को । प्रो० ग्रिम तथा स्टेपेन ऐसे विद्वान हैं जो एक से अधिक व्यक्तियों के लोक गाथा का रचयिता मानने के पक्ष में हैं । डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय इनके मत को आंशिक रूप से सत्य मानते हैं । प्रो० स्टेपेन विद्याल परी तथा प्रो० चाइड ऐसे विद्वान हैं जो एक ही व्यक्ति को लोक गाथा का रचयिता मानते हैं । हिन्दी में डॉ० उपाध्याय सम्बन्धवादी को मानते हैं । उनके मत से व्यक्ति भी लोक गाथा का रचयिता होता है और समुदाय भी । लोक गाथा का रचयिता समुदाय को मानने के पक्ष में उपाध्यायजी कन्नड़ी और विरहा गीतों के निर्माण का उदाहरण देते हैं । आगे निम्न हैं—

“अदीरों की बराल में विरहा गाने की विशेष प्रथा है । इस अन्तर पर अन्ध-अन्ध गवैमे जुटते हैं । दो दलों के बीच विरहा गाने की प्रतिपक्षिता प्रारम्भ हो जाती है” । इस कथन में ‘अन्धे-अन्धे गवैमे जुटते हैं’ पद से यह सिद्ध हो जाता है कि विशिष्ट प्रतिभावान व्यक्ति ही इस रचना में सहायक होते हैं न कि समुदाय का प्रत्येक साधारण व्यक्ति । गीतों के निर्वाह में यह पद्धति चल सकती है, लोक गाथा के निर्माण में नहीं, क्योंकि गाथा प्रबन्ध काव्य है । इस सम्बन्ध में हमारा मत इस प्रकार है ।

(१) कार्यान्वी प्रतिभा समुदाय के सभी व्यक्तियों में नहीं होती अतः किसी बात का अनुभव करते हुए भी सब उसे प्रकट करने में अक्षम होते हैं । आदिम समाज के सभी व्यक्तियों को कवित्व प्रतिभासंपन्न मानना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है ।

(२) लोक गाथा में दीर्घ कथानक का प्रवाह सभी लोक साहित्य माधेताओं न स्वीकार किया है । यह कथानक सूत्र सभी अक्षरलिखित रह सकता है जब एक ही व्यक्ति लोक गाथा का रचयिता हो । अतः व्यक्ति यदि लोक गाथा के रचयिता हुए तो कथानक की एक सूत्रता का निर्वाह नहीं हो सकेगा ।

(३) लोक गायी में विरोध लक्ष्य प्रदर्शित होता है, यह सभी ही सचता है जब व्यक्ति ही उसका रचयिता हो, क्योंकि छोटे-छोटे आदर्श स्थापना सामुदायिक कर्म नहीं है। व्यक्ति ही समाज के सामने आदर्श की अभ्यापना करता है।

अतएव हम लोक गायी का रचयिता व्यक्ति विरोध को मानते हैं। इन निर्माण प्रक्रिया के पश्चात् ही समुदाय का महयोग प्रारम्भ होता है। एक व्यक्ति द्वारा रची गई लोक गायी का सप्रसारण मौखिक रूप से होता है। इसमें साधन होता है अनुकरण। अतः लोक गायी के मूल रूप में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। एक गायी सुनो तक चलती है अतः प्रत्येक गायक अपने समय के अनुसार नवीन विचार उसमें मिला देता है फलतः गायी का रूप बस जाता है और मूल रचयिता भी तिरोहित हो जाता है। लोक गायी में रचयिता के व्यक्तित्व का अभाव इसी प्रकार होता है। मूल रचयिता अज्ञान काल में गायी की रचना कर पीछे छूट गया और लोक गायी, साक शक्ति के अनुसार नूतन-नूतन गायकों के योग में अपना कलेवर पुष्ट करती हुई प्रवाहित हानी रहती है।

लोक गायी की परिभाषा —

पश्चात् देशों में लोक गायी (Ballad) पर पर्याप्त कार्य हुआ है। प्रो० किट्टरिज ने बैलड की परिभाषा देते हुए कहा है— बैलड वह गीत है जिसमें कोई कथा कही जाती है^१। श्री हेजलिट ने इसे 'गीतात्मक धारणा' कहा है^२। डॉ० मरे के अनुसार यह "स्पृष्टतायक या उत्तेजनापूर्ण कविता है जिसमें कोई जन प्रिय आख्यायन रोचक ढंग से व्यक्त हो^३।

श्री ओरोड भी बैलड में कथा और गेयता को महत्त्व देते हैं। श्री भी होगार्ट इसमें कथा और गीत तत्त्व के साथ मौखिक परम्परा को होना अनिवार्य लक्षण बनाने हैं^४।

भारतीय विद्वानों में श्री यदुनाथ सरकार ने लोक गायी की परिभाषा देते हुए कहा है कि इसमें—

(क) द्रुतगति, (ख) शब्द विन्यास की सादृशी, (ग) विश्व व्यापक मर्म स्पर्शी

१- इंगलिश एण्ड स्कॉटिश पापुलर बैलड पृ० ११

२- लीरीकल नरेटिव — हेजलिट।

३- न्यू इंगलिश डिक्शनरी।

४- श्री बैलड्स एम० जे० सी० होगार्ट पृ० १०

प्राकृतिक और भादिम मनोरम (घ) स्थूल, किन्तु प्रभावोत्पादक चरित्र चित्रण और (न) साहित्यिक कृत्रिमताओं का न्यूनतम उपयोग या सर्वथा अभाव होना आवश्यक माना है। डॉ० सत्येन्द्र तथा डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय भी कपात्मकता और गेयता को लोक गाथा में आवश्यक तत्व मानते हैं।

उपयुक्त सभी परिभाषाओं में क्या और गेयता पर बल दिया गया है। कुछ में मौलिक परम्परा तथा रचयिता के व्यक्तित्व की अज्ञातता को महत्व दिया गया है। किन्तु हमारी मान्यता है कि ये दोनों अन्तिम बात लोक गाथा की विशेषता के अन्तर्गत आनी चाहिये, परिभाषा में नहीं। कुछ परिभाषाओं में आश्चर्य के जनप्रिय होने पर बल दिया गया है। वास्तव में बात यह है कि वे गाथाएँ ही जाल के प्रवाह में टहर पाती हैं जिनके आश्चर्यजनक लोकप्रिय होते हैं। लोक गाथा रचयिता के अल्पज्ञान के कारण साहित्यिक कृत्रिमताओं से लोक गाथा प्रायः बचती नहीं होती।

लोक गाथा, लोक प्रबन्ध काव्य है। हमारी दृष्टि से लोक गाथा में निम्न लिखित तत्व होने चाहिये।

- १ चरित्र नायक की संपूर्ण जीवन कथा
- २ गेयता
- ३ लोक भावों का निरूपण
- ४ लोक मानसीय प्रवृत्तियाँ
- ५ स्वाभाविक प्रवाह (साहित्यिक कृत्रिमताओं का अभाव)

अतएव लोकगाथा, लोक साहित्य की वह विधा है जिसमें किसी चरित्र नायक की संपूर्ण जीवन कथा स्वाभाविक रूप में बखिती हो जिसमें लोकमानसीय प्रवृत्तियाँ हो और जिसमें गेयता हो। इस परिभाषा के अन्तर्गत स्वरूप राम चरित्र को लिया जा सकता है। सर्वप्रथम यह कथा लल और कुश द्वारा यहाँ यहाँ थी। इसमें ही राम का संपूर्ण जीवन बखिती है। गाथा एक कथा ही है, संगीत का प्रयोग इसमें रोचकता उत्पन्न कर देता है। अतः संगीत भी इसका अंग बन गया। रामायण और महाभारत के अलावा भी लोक प्रचलित हैं और गांवों में गये जाते हैं।

लोक गाथा की प्रकृति —

लोक गाथा में कुछ ऐसे तत्व हैं जो अलंकृत काव्य से भिन्न हैं और इनके कारण लोक गाथा में प्रकृत विशेषताओं का समावेश हो गया है। ये दस प्रकार हैं—

१ घनगायन—साहित्यिक कृत्रिमताका वा घमास लोको गायामों में होता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि लोक गायामों में सौंदर्य नहीं है। उसमें घन गद्यता का नैसर्गिक सौंदर्य पूर्ण उद्गम रूप में होता है। यही कारण है कि लोक गायामा में भावों का स्वच्छन्द प्रवाह होता है। गायानकार अभिव्यक्ति को छंद, अलंकार के बंधन में सप्रयास नहीं बांधता। श्री राबर्ट प्रेन्स^१ ने कहा है कि गायामें 'टेकनीक की दृष्टि से समृद्ध नहीं होती। टेकनीक से उनका अर्थ है कठिन छन्द विधान, अलंकार का प्रयोग आदि। प्रायः इसीका समर्थन डॉ० कृष्णदेव^२ उपाध्याय ने भी किया है। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने इसी अर्थ में लोक गीतों को हृदय का घन कहा है^३। एक उदाहरण देकर हम अपनी बात स्पष्ट करेंगे। रात्रस्थानी लोक गायामा 'पावूजी की ये पक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

बोह तीबोडा केरा में नी पातू किस बिन् चान्या छोड ।

कोई घाटी तो व्यायोडी म्हाने घाटी कँवारी छोर दी^४ ॥

इन पक्तिया में कोई अलंकार नहीं, कोई कृत्रिमता नहीं, परन्तु नारी हृदय की उम आकुलता की सशक्त अभिव्यक्ति उमड़ी पड़ती है जिसमें शोका समाज तिर हिला हिला कर रन विमोर हो जाता है। लोक गायामों में अभिव्यक्ति ही प्रधान है अन्य उपादान गौण।

२ सामूहिक भावभूमि—गायामा लोक संपत्ति होती है वह समाज की वस्तु है। गायानकार ऐसी कथा को लोक-गायामा का आधार बनाता है जो लोक रूचि का समान आधार बन सके। लोक गायामा का गायन, समूह के सामने होता है अतएव गायानकार उन्हीं भावों को, उन्हीं अंशों को महत्त्व देता है जो सामूहिक महत्त्व के हों। एकंगी भावभूमि पर आधारित लोक गायामें प्रचार नहीं पा सकतीं। त्याग बलिदान प्रेम वचन निर्वाह आदि वे भावनाएँ हैं जिन्हें समाज का प्रत्येक व्यक्ति अच्छा समझता है और इन उदात्त भावनाओं के आश्रय पवितर्या को अर्द्धा और आनंद की भावना से देखता है। अतः हम प्रकार की सार्वजनिक रूचि की भावनाओं को सामूहिक भावभूमि कहा जा सकता है। लोक गायामों में अधिकतर ऐसी ही भावनाका को प्रथम मिला है।

१—श्री इंगलिश वेल्लड भूमिका प्र० २ राबर्ट प्रेन्स ।

२—लोक साहित्य की भूमिका, प्र० १० डॉ० कृ० दे० उपाध्याय ।

३—काव्य कौमुदी भाग, ५ प्र० १ श्री रा० न० त्रिपाठी ।

४—पावूजी लोक गायामा (लेखक के संग्रह से) ।

३ मौखिक परम्परा एवं लिपि-वद्ध रूप—लोक गायानों की मौखिक परम्परा उनकी एक विशेषता है। गायान का प्रथम रचयिता स्वामयिक प्रतिभा सम्पन्न तो होता था पर लिखना नहीं जानता था। अतः गायान, रचयिता के मस्तिष्क में रची गई और वाणी की सहायता से जन के समक्ष आई। उसके पश्चात् भी वह मौखिक रूप में ही सुरक्षित रही। आज भी लोक गायानों के लिखित रूप प्रायः नहीं मिलते। जब हम लोक साहित्य के सौन्दर्य की ओर आकृष्ट हुए हैं तब इन लोक गायानों को भी लिपि बद्ध करने के प्रयत्न की आवश्यकता का अनुभव करने लगे हैं। अभी भी अनेक गायान हैं जो लिपि बद्ध होने को हैं परन्तु विद्वानों का कथन है कि लोक गायानें अभी तक जीवित रहती हैं जब तक उनकी मौखिक परम्परा चली रहे और यदि किसी गायान को आपने लिख लिया तो समझ लीजिये आपने उसकी हत्या कर दी^१। डॉ० कृष्णदेव ने इसी संदर्भ में लिखा है—

‘जब किसी गायान को लिपि के शिकरा में बाँध लिया जाता है तब उसकी वृद्धि रुक जाती है^२’।

परन्तु, इस सम्बन्ध में हमारा मत यह है कि लोक गायानों के गायक आज भी अनपढ़ हैं और साधारणतः ग्रामों में निवास करते हैं। गावनों से लोक गायानों को लिपिबद्ध करने पर भी यह रूप अथ अनपढ़ गायकों तक नहीं पहुँचता। यदि पहुँचा भी है तो उनके लिये व्यर्थ है। अतएव लिपिबद्ध गायान का लाभ तो नागरिक जन ही उठाते हैं। इसलिये लिपिबद्ध होने से न तो गायान मरती ही है न रूपांतरित ही होती। ‘हू गजी-जवारजी’ राजस्थानी गायान है। इसके दो तीन प्रकाशित रूप हैं एक का प्रकाशन—संपादन श्रीयुक्त नरोत्तमदासजी स्वामी ने किया है। इस गायान को हमने अन्य स्थानों पर भी सुना। इस सुने गये रूप में और प्रकाशित रूप में पर्याप्त अन्तर है। इससे यह परिणाम निकलता है कि लिपिबद्ध होने से इसके प्रचार और लोक प्रियता में कोई अन्तर नहीं आया। ‘बयझावत गायान तो हमने स्वयं लिपिबद्ध की है। पर इसकी कोई हत्या नहीं हुई। यह तो अपने प्रचलित रूप में ही जीवित है। वरन् अन्धे गायकों को यह दुःख है कि उनसे बाद यह गायान मर ही जायगी।

४ संपीठामकता—गाय होना, जैसे गायान का धर्म है। प्रत्येक गायान लय,

१—“इन ही एक्स्ट आफ राइटिंग इच वन (डॉलड) बाउन यू मस्ट रिमेमबर दैट यू न्यार हेल्पिंग टू किल दैट चीज (सिन्नविक, दी चीज प्र० ३६)

२— लोक साहित्य की भूमिका प्र० ८६

राग और ताल में प्रस्तुत की जाती है। साधारण रूप में गाथा का पाठ सुनने से उसका वास्तविक आनन्द ज्ञान पाना असम्भव है। गायक एक बाध यत्र भी अपने साथ रखता है। इस प्रकार बाध और गायक के कूठ-माधुर्य तथा कथा-सौन्दर्य, तीनों मिल कर आनन्द की त्रिवेणी उत्पन्न कर देते हैं। राजस्थानी गाथा 'बगड़ावत' के गायक, बीन पर जब आलाप प्रस्तुत करते हैं। निशीथ के सन्नाटे में यह स्वर बढ़ चेतन्य के त्रिवेक को पशु बना देता है। रागों की समयानुकूलता का भी गायक ध्यान रखते हैं। वे भावानुसारी लय में समय-समय के अनुसार गाथा गायन में अंतर भी उतारन कर देते हैं। मुख्य रूप से ये गाथाएँ मुक्त छन्द में रची गई हैं। इस छन्द की भूमि इतनी लचीली होती है कि गायक चाहे जिस राग में उसे ढाल सकता है।

५. अज्ञात रचयिता—जिनी रचना का रचयिता तो अवश्य होता ही है। परन्तु, गाथा के लिये यह मायता है कि गाथा के रचयिता अज्ञात होते हैं। आज इतनी गाथाएँ प्रचलित हैं परन्तु, उनका रचयिता कौन है? इसका ज्ञान होना कठिन ही नहीं असम्भव बाध है क्योंकि गाथा में कही उसका नाम होता नहीं और इतिहास इस सम्बन्ध में मौन होता है। डॉ० उपाध्याय गाथा को जातीय रचना मानते हैं और इसकी विशेषता बतलाने हुए कहते हैं—

“इसका रचयिता दल के मुखिया का कार्य करता है और जब गाथा की रचना समाप्त हो जाती है तब उसके लेखन होने का वह अधिकार नहीं करता ।”

इस कथन में दो बातें आपत्तिजनक हैं। प्रथम तो यह कि गाथा का लेखक नहीं होता रचयिता होता है जो मौखिक रचना करता है। द्वितीय यह कि गाथा कभी समाप्त नहीं होती।

अज्ञात शब्द स्वयं किसी रचयिता की सत्ता का सातक है। ज्ञात और अज्ञात तो विशेषण हैं। इनके साथ किसी व्यक्ति महा पर गाथाकार का रहना सिद्ध है।

६. सदिग्ध ऐतिहासिकता—लोक गाथाएँ कल्पना, श्रुति शनिमृत एव अनुरोधना सम्पुटित रचना है। जो गाथाएँ ऐतिहासिक पात्रों को अपना कर चलती हैं उनमें भी केवल नायक अथवा अन्य पात्रों के नाम ही ऐतिहासिक होते हैं। घटना व स्थानों की ऐतिहासिकता सन्धि ही होती है। इसका कारण है गाथा के

रचयिता का अनपढ़ होना । इतिहास का ज्ञान वे श्रुत परम्परा से ही प्राप्त करते हैं । अतः घटनाओं का विवृत होना स्वाभाविक है ।

७ सूरीय कथानक और अनेक रूपात्मकता—लोक गायारों का मूल रूप चाहे कितना और कैसा भी हो पर कालान्तर में उनका कन्वेवर बहुत बड़ा हो जाता है इसमें कोई संदेह नहीं है और इसका एकमात्र कारण गाया की मौखिक परम्परा है । एक लोक गाया अनेक रूपों में उपलब्ध होती है । अनेक कठों में उसका वास होने से वह अनेक परिवर्तनों की धपने में समाहित कर अनेक रूप धारण करती है । कभी कभी इस प्रक्रिया में मूल कथानक का रूप भी बदल जाता है । कभी पानों के नाम, भाषा और गैली ही बदल जाते हैं ।

८ प्रचलित जन भाषा का प्रयोग—गायाकार अपनी रचना को गा कर सुनाता है अतः वह प्रचलित जनभाषा का प्रयोग करता है । अलङ्कृत भाषा काव्य में वहाँ काव्य रचयिता शब्दों के परिष्कृत रूप का प्रयोग करता है और भाषा की शुद्धता का विशेष ध्यान रखता है वहाँ गायाकार इस बात की विन्यास नहीं करता । लोक गाया की भाषा कभी प्राचीन नहीं पड़ती वरन् चिरन्तन रहती है एवं जीवित भाषा के रूप में वह प्रचलित जन भाषा का प्रतिनिधित्व करती है ।

९ अस्तित्व की धारणा का प्रभाव—अभिजात्य साहित्य में रचयिता का व्यक्तित्व सुलभित है । कभी कभी तो व्यक्तित्व को यह अभिव्यक्ति इतनी प्रबल होती है कि रचना सुनते ही श्रोता समझ लेते हैं कि रचना प्रमुख कवि या लेखक की है । परन्तु लोक गायारों में रचयिता के व्यक्तित्व का प्रभाव होता है । इसका मूल कारण भी मौखिक परम्परा ही है, क्योंकि इसीके कारण परिष्कृत परिवर्तन होने से भाषा के रचयिता का व्यक्तित्व विरोहित हो जाता है ।

१० उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव—डॉ० कृष्णदेव ने लोक गाया में उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव बतलाने हुए कहा है कि—“लोक गायारों में उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव पाया जाता है जिस प्रकार संस्कृत में “नीति शतक” और हिन्दी में नीति के दोहे मिलते हैं, इन गायारों में उस प्रकारके नीति बचन उपलब्ध नहीं होते” परन्तु भाषा से उपदेश लिया जा सकता है ऐसा मानते हैं । इन सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण भिन्न है । साहित्य में कला सम्मिलित उपदेश ही, भाषारों ने उचित माना है । रचयिता, वाच्य की भाँति प्रथम उपदेश की भाँति सामने आकर उपदेश नहीं देता ।

प्रत्येक साहित्यकार प्रथमपूरक उपदेशक बनने से बचना चाहता है। परन्तु यथा सर्वथा उपदेशग्रन्थ होती है, एसा नहीं कहा जा सकता। ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनमें यथा का परिणाम उपदेश है। इन्हें कोई सन्देह नहीं है कि यह पद्धति ऐसे उपदेश की नहीं है।

११ स्थानीयता—गाथा की विविधरूपा का उल्लेख पहले किया जा चुका है। जहाँ गाथा का प्रचार होता है, वृद्ध सनन उपरन्त बहों की स्थानीय विशेषताओं का समावेश सब गाथा में हो जाता है। 'छोट गाथा दुबरा की है। पर यह गाथा रात्रिस्थान में भी पाई जाती है और मोशुरी में भी। परन्तु दोनों रूपों में पर्याप्त अन्तर है। इसी प्रकार ब्रह्मा मारु गाथा की बात भी है। इसके उपस्थानों और ब्रह्म रूप में पर्याप्त अन्तर है।

१२ टेक पदों की पुनरावृत्ति—गौरु गाथाओं की सर्व प्रथम विशेषता है टेक पदों की पुनरावृत्ति। इन टेक पदों का महत्व है। टेक पद में एक मूल भाव सम्मिलित होता है। इससे प्राये बाली पंक्तियों में बहिष्कृत अर्थों द्वारा इस भाव को पुनः किया जाता है। बार बार टेक पद की आवृत्ति से प्रभाव एकर का निवृत्ति होता है। योग सम्पूर्णता के साथ सन्तुष्टा के साथ उसे प्रहृत करता है।

१३ लोक गाथा साहित्य साम्प्रदायिक भावना से अलग होता है—इसमें धर्म धनाय, मुसलमान देवी देवताओं तक का समान रूप से आदान होता है। नेरु भी आते हैं तो गणनामीर का भी उठता है। महेश्वर है। चार्पवर नाय और इन्मापनाय दोनों का समान सम्मान है। गाथा के अर्थ में भी सभी वरु और साधु के साथ आनन्द सेते हैं। गौरु साहित्य की इस महान भावना के कारण हम इसे गौरु भी महत्त्व देने हैं।

उपरोक्त विवरण में लोक गाथा की उत्पत्ति, स्वरूप और विशेषताओं पर ही विचार किया है। शायद यथा साहित्य सभी देशों का महत्त्वपूर्ण अन्वेषण साधन है। समाज का प्रवृत्त रूप इसमें उपलब्ध होता है। अन्वेषणों से मुक्त इस दृष्टि से इनका अभ्ययन स्वतः ही महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

अन्तर्प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-परंपरा

मानने विषय पर मानने से पहले यह उचित होगा कि मैं अपने विषय का आशय, उसकी मर्यादाएँ एवं परिचीमाएँ स्पष्ट कर दूँ। इस लेख के द्वारा मैं आप लोगों का ध्यान हिन्दी की उस व्यापक परम्परा की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ जिसका विधिवत् लोका-लोका अभी तक हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहासों में नहीं किया गया है। हिन्दी का विकास केवल हिन्दी भाषा प्रदेश तक ही सीमित नहीं है, वह अहिन्दी भाषी प्रदेशों में भी फैली-फैली है। किन्तु इस तथ्य से अभी बहुत ही कम लोग परिचित हैं। राज्यभाषा और राष्ट्रभाषा के रूप में समादरित होने से सदियों पहले भी हिन्दी भारत के अहिन्दी भाषी प्रदेशों में बाली और समझी जाती थी तथा उन प्रदेशों के साहित्यकार स्वभाषा में रचना करने के साथ-साथ हिन्दी में भी रचना किया करते थे।

हिन्दी की इस भारतव्यापी प्राचीन परम्परा का परिचय देना ही इस लेख का प्रतिपाद है। यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर देना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि हिन्दी साहित्य में हिन्दी शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में हुआ है। व्यापक अर्थ में हिन्दी किसी एक भाषा का नाम नहीं है। बल्कि शौरसेनी और मरवागी मण्डलों से आठवीं दशवीं शती के बीच विकसित हुई जनपदीय भाषाओं के समूह का नाम है। जिसके अन्तर्गत खड़ी बोली, राजस्थानी, ब्रज, अवधी इत्यादि सभी भाषाओं का समावेश हो जाता है। हमने भी हिन्दी शब्द का प्रयोग इसी व्यापक अर्थ में किया है।

पिछले दिनों देश में हुई शोध-खोज के आधार पर हिन्दी के सम्बन्ध में जो महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आये हैं उनसे एक तो यह स्पष्ट हो होता है कि हिन्दी का विकास प्रारंभ से ही आठ भाषा के रूप में हुआ था, दूसरे असम, बंगाल, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, और दक्षिण भारत के कवि भी स्वभाषा में रचना करने के साथ-साथ हिन्दी में काव्य रचना किया करते थे। इन कवियों की रचनाएँ हिन्दी की व्यापकता का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अहिन्दी-भाषी कवियों की व शब्दोपयोगिता

हृदय के नैसर्गिक उच्छ्वास के रूप में मुलरित हुई थी। उन्होंने किसी राजकीय दबाव से हिन्दी को नहीं अपनाया था। सांस्कृतिक, धार्मिक, व्यापारिक एवं साहित्यिक कारणों से हिन्दी काव्य रचना की सहज प्रेरणा उन्हें उन दिनों हुई थी। अहिन्दी भाषियों की हिन्दी साहित्य रचना की यह परम्परा प्राकृतक प्रभाव एवं अद्वैत रूप से चली आ रही है।

बंगाल में हिन्दी —

भारत में श्री मुनीतिकुमार घटर्जी ने लिखा है, 'तुर्क लोगों के आने से पहले बंगाल में मातृभाषा के अलावा शौरसेनी या पछाद्दी अपभ्रंश में भी वहाँ के बौद्ध और ब्राह्मण धर्म कवि रचना करते थे। मात्र से ५०० वर्ष पूर्व के बंगाली कवियों की भाषा हिन्दी के बहुत निकट है। विद्यापति, जयदेव और उमापति की रचनाओं में हिन्दी का प्राचीन रूप विद्यमान है। इसके अतिरिक्त बाँ० कल्लभुमारी ने हिन्दी और बंगाली के वैष्णव कवियों का तुलनात्मक अध्ययन शीर्षक प्रबंध में बताया है कि बंगाल के प्राचीन कवियों ने बंगाल के अतिरिक्त ब्रजभाषा, अवधी भयिली और वज्जुनि में भी सुन्दर रचनाएँ की हैं। १६वीं शती में जिन वैष्णव बंगाली कवियों ने हिन्दी में रचनाएँ की हैं उनमें राधावल्लभ, कृष्णदास, गोपाल भट्ट, परमानन्द, भाषो, रघुनाथदास के नाम उल्लेखनीय हैं। बंगाल के सुसम्मान कवियों ने भी हिन्दी में सुन्दर ग्रंथ रचे हैं। जिनमें अलाओली कृत पदुमावत प्रमुख है। इसके अतिरिक्त इन कवियों ने भक्तमाल मानस आदि का हिन्दी से बंगाल में अनुवाद भी किया है। १८वीं शती के सुप्रसिद्ध बंगाली कवि भरतचन्द्रराय गुणकर हिन्दी के अन्वे जाता थे उन्होंने हिन्दी में भी कविता की है। १६वीं शती के बंगाली कवि गोपाल भट्ट की हिन्दी रचना का एक उदाहरण देविये —

देखरो सखि कवल नयन कुँज में बिराज है ।

धामेतें किशोरि गौरि, अलम धंग अति विमोरि

हेरि श्याम-बदन-चद, मंद मद हास है

अगे अगे बाहे भीड़ पुल्लुट बात अति निबौड़

प्रेम तरंगे किपरस, कंबल मधुप संग है

शारि शुक विकु करता गान भपरा भमरी घरत तान

शुनि धनि धनि उठि बट्ट चौर अपन जात है ।

श्री गोपाल भट्ट प्राय, वृन्दावन कुँजे वास

राग सपन नयन हेरि भूतत मन प्राप है ।

पंजाब में हिन्दी —

बंगाल की भांति पंजाब में भी हिन्दी की प्राचीन परम्परा विद्यमान थी। पंजाब के सिक्ख गुरुओं के हाथों हिन्दी की अनूठी सेवा हुई है। इन्होंने अपने उपदेश प्रायः हिन्दी में दिये हैं। सिक्खों के हिन्दी प्रेम की प्रशंसा करते हुए सिक्ख साधु सत गानसिंहजी ने सप्तम हिन्दी साहित्य सम्मेलन में कहा था 'भाषा से अनुमानत' ४०० वर्ष पूर्व का सिक्ख इतिहास देखने से हमको पता लगता है कि सिक्ख गुरु और सिक्ख सम्प्रदाय के लोग हमारी हिन्दी और हिन्दू धर्म का ही उद्धार करते थे। गुरु नानक ने अपने पर्यटन-काल में बंगाल, द्वारका अगन्नाथपुरी, लखनौ और मथुरा-मदीना में जो उपदेश दिये थे वे हिन्दी में थे। गुरु नानक के अतिरिक्त गुरु अमरनाथ, गुरु अमरदास, गुरु रामदास और गुरु अर्जुनदेव ने भी हिन्दी में बोधप्रद कविता की है जिनका सग्रह सिक्खा के धर्म ग्रंथ गुरु ग्रंथ साहब में किया गया है। सिक्खों के दसवें कवि गुरु गोविन्दसिंह की तो शिखा-दीक्षा भी हिन्दी में ही हुई थी। ये संस्कृत और फारसी से माने हुए विद्वान तथा ब्रज भाषा के सुकवि थे। वे हिन्दी कवियों के आश्रयदाता भी थे। कहा जाता है उनके आश्रय में ५२ कृति भोगी कवि थे जो गुरु भाषा से रचना किया करते थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि इन कवियों ने हिन्दी में प्रचुरमात्रा में उत्कृष्ट ग्रंथ लिखे थे पर औरंगजेब के सिपाहियों ने आनन्दपुर के किले को लूट कर उसमें सुरक्षित इस विपुल साहित्य संपदा को सतलज में बहा दिया और इस प्रकार पंजाब के हिन्दी कवियों के अनेक गौरव ग्रंथ विलीन हो गये। गुरु गोविन्दसिंह तथा उनके आश्रित कवियों के कृतित्व का पता दशम ग्रंथ में संकलित रचनाओं से लगता है। स्वयं गुरु गोविन्दसिंहजी की रचना शैली का एक उदाहरण देखिये —

निरजुर निरूप्य हो कि मुन्दर वरूप हा कि
 भूपन के भूप हो कि दाता महादान हो ।
 प्राण के बन्ध्या दूष, पूत के तिनपा,
 रोग जोग के भिटया क्रियो भानी महामान हो ।
 विद्या के विचार हो कि उद्धत भवनार हो कि,
 सिद्धता की मूर्त हो मुद्धता की सज हो ।
 जीवन के बाल हो कि फाग दुके गाल हो कि,
 मुमन के मूल को कि मित्रन के प्रान हों ।

सिक्ख गुरुओं के हिन्दी प्रेम के फलस्वरूप पञ्जाब में अग्र कवियों ने भी हिन्दी काव्य रचनाएँ कीं। ऐसे कवियों में बीरसिंह, रामसिंह, गडामिह, सेनासिंह घोर-परमानसिंह सतीशसिंह गुलार्थसिंह, जानी भानसिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। महाराष्ट्र में हिन्दी —

बंगाल और पञ्जाब की भाँति महाराष्ट्र के कवियों ने भी हिन्दी में रचनाएँ की हैं। महाराष्ट्र में हिन्दी-परम्परा के बिन्दु १३वीं शती से ही दृष्टिगत होने लगते हैं। मराठी भाषा के प्राद्य महाकवि ज्ञानेश्वर तथा निघृतिनाथ सोपानदेव और मुक्ताबाई की हिन्दी रचनाएँ प्राप्त हैं। इनके प्रतिरिक्त नामदेव, सुकाराम एकराव जानी खनादन देवनाथ देवदास भानुदास सोहिराबा बयाबाई दयाबाई, इत्यादि सत्तों की रचनाएँ भी उपलब्ध हुई हैं। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने 'हिन्दी की महाराष्ट्र के सत्तों की दून शीपक प्रथ में महाराष्ट्र के सत्तों की हिन्दी कविता का बडा ही विन्तापूर्ण अनुशीलन एव विवेचन किया ह। ज्ञानदेव की एक हिन्दी रचना देखिये —

सब घर दख्या माणिक मौला कसे न कडूँ में काला घवला ।

पच रग से न्यारा होइ, लेना एक न देना दोई ॥

निगुण ब्रह्म भुवन से न्यारा, पोषी पुस्तक भये अपारा ।

कोरा काग पढ कर जोइ, लेना एक न देना दोई ॥

निगुण सागर अपाह पसारा वाको तरंग सक संसारा ।

उद्भव प्रलय बोल हाई, लेना एक न देना दोई ॥

खहि सागर शायीकर्ता, घरती जो काग निवो पढिता ।

एक मत्तर पढे न कोई लेना एक न देना दोई ॥

कह ज्ञानदेव मनमो घरियो, सप्तहि सागर भागे घरियो ।

पिठ में भोवे जोवे कोई, लेना एक न देना दोई ॥

सत कवियों के प्रतिरिक्त महाराष्ट्र राजाओं तथा राजाधित कवियों ने भी हिन्दी में सुन्दर रचनाएँ की हैं। शिवाजी के पिता शाहूजी के दरवार में १ कवि ये जिनमें से अनेक कवि हिन्दी के भी अच्छे जानकार थे। शाहूजी की प्रशंसा में खयराम पिठे द्वारा लिखा गया माधव विलास चपू १२ भाषामा में है। शिवाजी के आश्रय में मी भूरण गाविन्, मानसिंह आदि हिन्दी के अनेक सुकवि थे। इनके प्रतिरिक्त सभाजी समय गुरु रामानाम महादजी सेंधिया और दोनतरान सेंधिया

ने भी हिन्दी में रफूट कविता बरके तथा हिन्दी कवियों को भाग्य देकर मात्र से छात्रियों पूर हिन्दी का परम उपकार किया था । महाराष्ट्र में हिन्दी काव्य यदाकिनी थाज भी उसी सहज सुमधर गति से प्रवाहित है ।

दक्षिण भारत में हिन्दी —

दक्खनी हिन्दी नामक पुस्तक की भूमिका में श्री धीरेन्द्र घमा ने कहा है—
‘हिन्दी भाषा का विकास और उसमें साहित्य रचना का काय उचरो भारत में ही नहीं हुआ है । दक्षिण भारत की मुसलमानी रियासता, उनके शासकी एवं उनके दरबार के तथा अय साहित्यकों का भी उसमें महत्त्वपूर्ण हाथ रखा है । मुसलमान फकीरों, सनिको और राज्य सत्यानका के द्वारा साहित्यिक हिन्दी दक्षिण भारत में पहुँची थी और १५वीं शताब्दि तक उसमें उन्वहाति का साहित्य निमित्त जाने लगा था’ ।

यह सच है कि १५वीं शती से बीजापुर में धान्निशाही, गोनकु हा में कुतुबशाही बीदर में बरीदशाही, बरार में इमामशाहा और अहमदनगर में निजामशाही सत्तनतें कायम हुई । इन रियासतों ने हिन्दी को अपनाया और हिन्दी कवियों को आश्रय दिया । इसकी पुष्टि मुसलिम इतिहासकार फरिस्ता के इस कथन से भी जाती है कि बहुमनी राज्य के दरबरो में हिन्दी प्रचलित थी और सन्तनत ने उस सरकारी जवान का पद दे रखा था । दक्खनी हिन्दी के प्रारम्भिक कवियों में १५वां शती के हुसैनो और निजामी के नाम उल्लेखनीय हैं । अय कवियों में बज्जी, इमन निशानी, गुनाममली, मुनीमी, कस्तामी, महानुरीन, नसगती, इररती इरगदि उल्लेखनीय हैं । इन कवियों की रचनाओं के कुछ उदाहरण देखिये —

(१)

बिरागो खो बहाने है उस घरदार करना क्या ।
हुई जोपन जो कोई पीरी उस ससार करना क्या ॥
जो पावे प्रीत का पानी उसे क्या काम पानी सा ।
जो मोक्ष दुख का करते है उस आषार करना क्या ॥

(२)

भुक्त दिल ने कबुतर को पकडा है तेरी लाने ।
यह काम घरम का है ठुक्त इसको छुड़ाती जा ॥

(३)

मुझे अचरज यही आता है पी के पान खाने का ।
न नात्र क्या सबक, पाठत घमापी के रवान का ॥

दक्षिण में हिन्दी की यह परम्परा महमदनगर, बीजापुर, गोलकुंडा, बीदर और बरार तक ही सीमित नहीं रही पर मुद्दूर दक्षिण तक इसके व्याप्त होने के प्रमाण क्रमशः उपलब्ध होते जा रहे हैं। चाणक्य के महाशय्या परमनाम वचिपाल (गर्म धोमान्) (ई० सन् १७१५) की हिन्दी रचनाएँ देख कर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। उनकी रचना-शैली का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

बाज्र मुरली गुरारे मुँर नमुना किनारे ।

राम रास म्वाल बाल संग मदन प्यारे ॥

टीक माल प्रेम जाल लसन जैसे धन्वाल ।

साँवरो दया विसान मुक्तमाल धारे ॥

देव देव पद मुकुंद, मोहनो धर्म वृंद ।

गोपिका शकीर-चन्द मन्द के तुसारे ॥

कोटि काम तन ललम, तीनलोकनाथ श्याम ।

गावत श्रुति जाके नाम भक्त बाँतारे ॥

बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में हिन्दी की प्राचीन परंपरा का विहंगवावलोकन कर चुकने के पश्चात् अब हम इस परंपरा में गुजरात के योगदान की थोड़े विस्तार से चर्चा करेंगे।

गुजरात में हिन्दी—

जो तो सभी प्रदेशों ने हिन्दी भाषा और साहित्य की अभिवृद्धि में योग दिया है पर गुजरात का योगदान अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। एक तो हिन्दी भाषी प्रदेश का निकटवर्ती प्रदेश होने के कारण दूसरे बल्लभ सप्रणय, स्वामी नारायण संप्रसाद, सूरसे सप्रदाय, जैन धर्म और सत मत के व्यापक प्रभाव के कारण और तीसरे गुजरात के मुसलमान बादशाहों और राजपूत राजाओं के हिन्दी प्रेम के कारण गुजरात के अक्षर में हिन्दी को फलने-फूलने का पर्याप्त अवसर मिला था। गुजराती कवियों ने हिन्दी में विपुल साहित्यकी सृष्टि की है। इन हिन्दी सेवी गुजराती कवियों को हम सात भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) वैष्णव कवि (२) स्वामीनारायण सप्रणय के कवि (३) सत कवि, (४) जैन कवि (५) सूरसे कवि, (६) राजा और राजाजित कवि तथा (७) भर्वाधीन युग के कवि। सबसे पहले वैष्णव कवियों को लीजिये—

वैष्णव कवि—

गुजरात में वैष्णव भक्ति की परम्परा बहुत पहले से प्रचलित थी। पर उसके पुनरुत्थान का श्रेय बल्लभाचार्यजी तथा उनके पुत्र विठ्ठलनाथजी को है जिन्होंने गुजरात में अनेक यात्राएँ की थीं और गुजरात की जनता को बल्लभ-संप्रदाय की ओर पाकपित किया था।

ब्रजभाषा में कविता करने वाले कवियों की परम्परा गुजरात में सूरदास के समकालीन कवि भालण से प्रारम्भ होती है। उनके दशमस्कंध नामक गुजराती काव्य में ५ पद ब्रजभाषा के भी मिलते हैं। इनकी भाषा-शैली का उदाहरण देखिये—

धन को सुख समस्त श्याम
 पर्नहुटी सो बीसरत नाही न भावत सुन्दर धाम ।
 बदोर मात्रा नवनीत के कारण, उल्लले बधि ते बहु दाम ।
 धित्त में वे जुजुभी रही है चोर चोर करत हें नाम ।
 निशदिन फिरतो जु सुरमि के सगे शरपर परत शीत पन धाम ।
 निशदिन फुनी दोहन बंधन को सुख करि बटत नाहीं जो नाम ।
 भोर विच्छ गु जाफन लेले, बेल बनावत रुचिर सलाम ।
 मालत प्रभु विधाता की गति, चरित्र तुमारे सब नाम ।

इनके पश्चात् गुजरात में वैष्णव कवियों की सुदीर्घ परम्परा में तुप्रमिद सगीराज बंदू नावरा, मजूद्धाव के आठ कवियों में से एक—कृष्णनाथ अधिकारी तथा मीराबाई का नाम उल्लेखनीय है। मीराबाई के जीवन के अन्तिम २५ वर्ष गुजरात में ही बीते थे। इनके पश्चात् इस परम्परा में मुकुन्द गुगली, श्रीकमनाथ, दयाराम हरखदास गिरपर, आश्रित्वराम तथा जाममुठा प्रतापवाला के नाम उल्लेखनीय हैं। इन कवियों में से दयाराम निर्विवाह सर्वोत्कृष्ट एवं अप्रतिम है। इन्होंने ब्रजभाषा में ४१ प्रबंधों तथा २२,००० सफुट पदा की रचना की है। इनकी रचनाओं में सतसैया तथा रसिक रत्न सर्वोत्कृष्ट हैं—

चाहूँ बसाये हृदय में, परू निर्भंगी ध्यान ।
 ताते राख्यो कुञ्जिल उर, होहि प्रसीसों श्याम ॥
 बचको हरि हरि रतत हों, कटत न क्यों सताप ।
 हृत विरत बिसर्यो क्यों, बरये लखि मो पाप ॥ (सत सैया)

स्वामीनारायण संप्रदाय के कवि —

१८वीं शती के परचातु गुजरात में वल्लभ संप्रदाय का प्रभाव घीण होने लगा । जैन धर्म पर से सामान्य जनता की भास्था पहले ही उठ चुकी थी । देश में अत्युत्थता, अज्ञान और अंध विश्वासों का बोलबाला था । तिम्र वर्ग के लोग व्यसनों में कने हुए थे । ऐसे समय में श्री सहजानन्द स्वामी ने स्वामीनारायण संप्रदाय की व्यवस्थित रीति में स्थापना करके सभी सामाजिक और धार्मिक बुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया । वल्लभाचार्य की भांति सहजानन्द के अनुयायियों में भी बाठ प्रमुख हिन्दी सेवी कवि थे—मुन्नानन्द ब्रह्मानन्द, प्रमानन्द, निष्कलानन्द, भूमानन्द, दवानन्द, दयानन्द और मजुकोशानन्द । ये सभी कवि ब्रजभाषा और सगीत के ज्ञाता थे और इन सभी ने मीति, वैराग्य और कृष्ण भक्ति विषयक सगीतात्मक पदों की रचना की है । इन बाठ कवियों में से श्री मुक्तानन्द ब्रह्मानन्द और प्रेमानन्द की त्रिपुटी बहुत ही प्रखर एवं प्रभावशाली है । इन तीनों की रचना—शैली के उदाहरण क्रमशः यहाँ दिये जाते हैं—

(१)

छाड़िके घनश्याम, और को घर जो ध्यान ।
ब्रह्म द्वारा छाती मेरी कठिन बूठार सों ॥

(२)

कान कुंवर मन भये, झालीरी मेरे काम कुंघर मन भाये ।
मैं जो खड़ी थी अपने मुकन में चलके अचानक भाये ।
कोमल गात न खात बखाने, छेन छुगन रग छाये ।
ब्रह्मानन्द जोर हृग मासे मद मद मुग्नाये ॥

(३)

बैरन मोरीरे बाजी बाँसुरी ।
अवग सुनत मोरी सुधबुध बिसरी, नैनः बहत हैं मेरे बासुरी ।
विरहा भरी बाजे बन बासुरी, छेरे करे बारे मोरी पांसुरी ।
कैसी करु अब कल न परे मोहे, निकसत नाहिरे मोरी सासुरी ।
प्रमानन्द घनश्याम मिया मोरे, बियाम ठारीरे प्रेम बासुरी ॥

निर्गुण सत कवि —

गुजरात की सत परम्परा उत्तर भारत की सत परम्परा की ही एक कड़ी है । गुजरात के सतों ने भी बासाचार्य का खरडन करके जनता को सधुद्धी भाषा

में ज्ञान एवं वैश्वम्भरील एवं सदाचार का उपदेश दिया है। इस दृष्टि से देखने पर गुजरात के संत भी उसी गुण्डही के धागे प्रतीत होत हैं जो समस्त उत्तर भाग में व्याप्त हैं। इस धाग का एक छोर यदि पंजाब में मिलता है तो दूसरा महा राष्ट्र में, एक छोर बंगाल में है तो दूसरा गुजरात में। नानक, नामदेव, कबीर और भक्त शैली ज्ञान-गुण्डही के धागे हैं। मलग अलग प्राता के होते हुए भी ये सब एक ही सस्था के प्रतिनिधि हैं, गुजराती संतों की सुदीर्घ परम्परा में अज्ञा, बाबू प्राणनाथ, भाणदास, रत्नधेम, मोरार विक्रम, होयी, श्रीबण, प्रोत्तम, धीरो, निरात, भाबा मनोहर, छोरम, दीन दरवेश, मरजुन, अनवर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन संतों में भक्तों का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली है चाहे तो हम इन्हें गुजरात का कबीर कह सकते हैं। इनकी रचना शैली का एक उदाहरण देखिये —

मकल कला खेलत नर जानी ।
बैयेहि माव हिरे किये दसों निच,
ध्रुव तारे पर रहत निशानी ॥
चलन चलन अचनी पर बाकी ।
मनकी मुरत आकाश ठहरानी ॥

तत्व-समास भयो है स्वतन्त्र,
जसे हिम होत है पानी ॥ अकल ॥ १ ॥

इसी प्रकार अन्य गुजराती संतों की बाणों भी यहन पंजीर एवं बीचप्रद हैं। इन संतों की एक विशेषता यह है कि इन्होंने भाद्र से सदियों पहले इन महिन्दी भाषी प्रदेशों के गांव गांव और घर-घर पहुंच कर हिन्दी का प्रसार जगाया था।

जैन कवि —

गुजरात के अनेक जैन कवियों में मानन्दधन ज्ञानानन्द, विनय विजय, यशो विजय और किशानदास का नाम उल्लेखनीय है। किशानदास की सुन्दर रचना शैली का एक उदाहरण देखिये —

भंजनि के बन ग्यों घटत पल पल धातु,
विपत्ते विषम व्ययमाय विप रसके ।

पथको मुकाम बहु बामको न गाम यह,
जबो निज धाम तारै कीत्रे बाम मरुके ।

ज्ञान मुलातन उमराव राव राना ज्ञान,

किसन अजन जन कोअ न रही सके ।

सांफरू बिहान चल्यो बात हे अिहान तातें,

हमदू निगन महिमान हिन हमके ॥ २० ॥

सूफी कवियों की हिन्दी कविता —

गुजरात के सूफ़ी मुसलमान सूफ़ी संता के हाया भी हिन्दी की थाड़ी बहुत सेवा हुई हैं। इन संता के कारण गुजरात में खड़े बोली की परम्परा का भोगलेरा हुआ था। गुजरात के उदू विगन स्व० डार सादव का कहना है कि, यह गुजरात के ही पाक सरजमी भी जहां सबसे पहले उदू खवान की अरबी तराकील हासिल हुई। पर गुजरात के इन सूफ़ी संतों ने अपनी भाषा को कमी उद् नहीं कहा। उन्होंने अपनी भाषा को सदैव हिन्दयो, हिन्दी अथवा गुजरी नाम से संबोधित किया है।

गुजरात के मुसलमान सूफ़ी संतों के शेर बहाउद्दीन बामल (सन् १३८८-१५०३), काजी महमूद दरियाबी, शाह अलीजी गामघनी और हरबत खूबसुहम्म चिरती के नाम उल्लेखनीय हैं इन कवियों की कविता में हमें अमीर खुररोकी भाषा शैली देखने को मिलती है। शेर बहाउद्दीन बामलकी कविता का एक उदाहरण देखिये —

यू बाजन बाजे रे इसरार छाजे

महल मनमें घमके, रबात्र रग में भमके

सूफ़ी उन पर ठमके

यू बाजन बाजे रे इसरार छाजे ।

जिस प्रकार इन घम सापेक्ष कवियों ने हिन्दी में कविता की उसी प्रकार कुछ धर्मनिषेध ने भी हिन्दी में कविता की है। ऐसे कवियों में गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ के राजाओं तथा उनके आश्रित कवियों का नाम उल्लेखनीय है। कच्छ के महाराज लक्षपतिजी ने मुंब में ब्रजभाषा की एक पाठशाला भी स्थापित की थी जो उन लिंगों अपने ढंग की भारत भर में एक ही पाठशाला थी। राजकोट के राजकुमार महेरामणसिंह, सौराष्ट्र के भद्रला अमरसिंहजी, रणमलसिंहजी, मानसिंहजी ने भी सुन्दर काव्य की रचना की है। गुजरात के राजपरानों में से कालदेवी ठुरानी, चावडीजी और आमसुता प्रतापवाला की भी हिन्दी रचना प्राप्त हुई हैं।

इन कवियों में स राजकाट क राजकुमार महेशमणिसिंह कृत प्रविणसापर चार सर्गों का चारणी ब्रज और खड़ी बोली में लिखा गया महाकाव्य है। गुजरात के राम्यपरा को यह हिन्दी का सबसे बड़ी देन है। एक उदाहरण देखिये—

कृि फें छोले में, भृकुटि भरोले में,
 सीस पेव तौरन में प्रति बरभायते ।
 मद मद हासन में, बरुनि विलासन में,
 मानन—उजासन में अकषीध धाय के ।
 माती मनि मानन में, सीसनी दुसालन में,
 चिकुटी के तालन में, चेटक लगाय के ।
 प्रेमवान ने गयो न जाने किले गयो,
 सु पंथी मन से गयो भरोखे हम लाय के ॥

राजधित कवियों में चारण कविया में ईसरगत हारदास, कु माकुला, सायामुला, पातामार्द, लागीदास आदि उल्लेखनीय ह। सायामुला के नागकुमण से चारणी भाषा शैली की एक बानधी देखिये —

कडा हूत आमो भठो काज केहा ।
 गृहा भूलियो वापरा सीप रोहा ।
 कदो कोर चम्पे रही आष कावे,
 भसो बाल देखी, दया मोर आवे ।
 हजारों भुमा जायमी नाय देवा,
 न हुना न छडे निम्द्वार नेवा ।
 महाबाल काली न को बाल मान,
 मरो बोवरी मात्र ही बाल माने ।

प्रबंध के अतिरिक्त गुजरात के चारणों ने मुक्तक रचनाएं भी की हैं। दोहा गुजरात के चारणों का प्रिय छंद है। जिसकी प्रथमा 'सोरठियों' दूहों भलो कह कर की गई है। बीरों को विनाशिता की नीं स भटक कर खगाने के लिये चारणों के सीरण वाक्यबाण तथा शृंगार रस में पाठकों को स्निग्ध करने के हेतु इसने छीटे भी इसी छंद में छूटे हैं। यथा—

खनम अकारण ही गयो, मयु मिर सनन न मय ।
 वीला सुरी न माणिया, घारी गये न लण ॥

इन कवियों में से राजकोट के राजकुमार महेंद्रमणिसिंह हूत प्रविणसागर चार सगों का चारणी ब्रज और लड़ी बोली में लिखा गया महाकाव्य है। गुजरात के राज्यधरों को यह हिन्दी को सबसे बढ़ी बेन ह। एक उदाहरण देखिये —

कटि फें धोरन में, मृदुति मरारन में,
 सोच मेघ तोरन में, भवि बरम्भवन ।
 मंद मद हासन में, बहनि विलासन में,
 शानन-उजासन में बकचौघ छाय के ।
 मोती मनि मानन में, सोसनी दुसालन में,
 चिकुटी के सालन में, चेटक लयाय के ।
 प्रमदान दे गया न जान किजे गयो,
 मु पंथी मन से गया भरखे ह्य लाय के ॥

राजाचित कवियों में चारण कवियों में ईसरनास हारनास, कु मामुला, सामामुला, पातामार्द, लारीदास आदि बन्नेसनीय ह। सामामुला के नामहमण से चारणी भाषा शली की एक वानयी देविये —

कठों हूत आभो मठो काय बेहा ।
 एहा भूलिया वापरा सोप गेहा ।
 बहो कोर चम्मे, रही थाव कावे,
 मसो बाल देखी, दया मोर आवे ।
 हजार्गे मु सां जागसी नाग देवां,
 न हूनो न छडे निरुद्धार नेवा ।
 महाबाल काली न को बाल मान,
 मडो बोकरी मात्र ही बाल माने ।

प्रथम के अतिरिक्त गुजरात को चारणों ने मुक्तक रचनाएँ भी की हैं। दोहा गुजरात के चारणों का प्रिय छन्द है। जिसको प्रथमा 'सोरवियों इहाँ मतो' कह कर जी गई है। धीरा को विनाशिता को नीं से भटक कर लगाने के लिये चारणों के सीसल वाक्यवाण तथा शृंगार रस में पात्रों को स्निग्ध करने के हेतु इसने छीं भी शमी छन्द में छूटे हैं। यथा—

धनम प्रकारण ही पया, मयु मिर खम्य न मय ।
 सीसल तुरी न मारिषया, गारी गन न लग्य ॥

काग उछावन घन सड़ी मायो पीर भङ्गक ।

मापी चूड़ी काग गल, मापी मूय तङ्कक ॥

धारणा के अतिरिक्त पुरुकर, गजन, दलपतिराय, बशोपर, श्रोपड, केवल राम, आदितराम और उतमराम कवीश्वर के नाम राजाधित कवियों में उल्लेखनीय हैं।
आधुनिक कवि —

गुजरात के आधुनिक कवियों में दलपतराम, नर्मन, भवितानारायण चाला राकर, नानालाल, हीराचन्द कानजी और गोविन्द मिल्हासाई के नाम उल्लेखनीय हैं। गय-लेखका में हिन्दी गय के प्रथम उन्नायक लल्लूलाल दयाचन्द सरस्वती महात्मा गधी, मशरूवाला, पं० मुखलासजी, काका कालेलवार और श्री इन्द्र बसायदा के नाम उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा बन जाने के बाद उनके प्रचार और प्रसार में भी गुजरात ने महत्वपूर्ण योग दिया है। पर उसका उल्लेख यहाँ अप्रासंगिक होगा।

रूपसंहार —

अपना वक्तव्य समाप्त करने से पूर्ण में चारूंगा एक बार पुनः इस इस वक्तव्य से प्रकाश में आने वाले तथ्यों और निष्कर्षों का सिद्धावलोकन करलें। अहिन्दी भाषी प्रदेशों में व्याप्त हिन्दी की इस गायक साहित्य परम्परा के अनुशीलन से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि हिन्दी राज-भाषा बनने से सत्रियों पहले सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, व्यापारिक एवं साहित्यिक कारणों से उत्तर में घन्टी विशाल से लेकर दक्षिण में रामेश्वर तक और पश्चिम में झारका से लेकर पूर्व में कामाख्या तक व्याप्त थी तथा आवश्यकता पड़ने पर उसका प्रयोग सांतर-भाषा और साहित्य भाषा के रूप में होता था।

अहिन्दी भाषी प्रदेशों से प्राप्त हिन्दी की इस गायक साहित्य सपदा का राष्ट्रीय ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, भाषा और साहित्य की दृष्टि से भी अहिन्दी भाषी कवियों की ये हिन्दी रचनाएँ कम महत्त्व की नहीं हैं।

सारंग रूप से यह बात निर्विवाद कही जा सकती है कि हिन्दी की व्यापक परम्परा में अहिन्दी भाषी प्रदेशों ने जो योग दिया है यह मूरु हाते हुए भी महान है।

